

## प्रकरण छठा।

### विशेष कार्यसिद्धि

चौथे प्रकरण में यह उल्लेख हो चुका है कि, अकबरने अपनी धर्मसभा के १४० मेम्बरों को पाँच भागों में विभक्त किया था। अर्थात् एकसौ चालीस मेम्बरों की पाँच श्रेणियाँ बनादी थीं। उनमें प्रथम श्रेणीमें जैसे हीरविजयसूरिका नाम है वैसे ही पाँचवीं श्रेणीमें भी विजयसेनसूरि और भानुचंद्र नामक दो महात्माओं के नाम हैं। अबुलफ़ज्जलने 'आईन-इ-अकबरी' के दूसरे भागमें तीसवें आईनके अन्तमें इन एकसौ चालीस सभासदों के नाम दिये हैं। उनमें ५४७ वें पेज में इन दोनों महात्माओं के नाम हैं। -१३९ Brijaisen sur, 140 Bhanchand ये 'विजयसेनसूरि' और 'भानुचंद्र' ही विजयसेनसूरि और भानुचंद्र हैं। इन दोनों महात्माओंने भी अकबरकी सभामें जैनोपदेशकका कार्य किया था। इसलिए इनके संबंधमें भी यहाँ कुछ लिखना आवश्यक है। इन दोनों महात्माओंके विषयमें कुछ लिखने के पहिले हम शान्तिचंद्रजीके लिए, जिनका पाँचवें प्रकरणमें नामोल्लेख हो चुका है और जिनको सूरिजी बादशाह के आग्रहसे आगरेहीमें छोड़ आये थे, कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं। अर्थात् इस बातका उल्लेख करेंगे कि उन्होंने अकबर के पास रहकर क्या क्या कार्य किये थे?

यह बात तो निःसंदेह है कि शान्तिचंद्रजी महान विद्वान् थे। उनकी वाणीमें प्रभाव था, प्रत्येक सुननेवाले के हृदय पर आपका उपदेश असर करता था। इस पर भी आपमें एकसौ आठ अवधान करने की जो शक्ति थी वह तो अद्वितीयही थी। उन्होंने अकबरसे

### विशेष कार्यसिद्धि

मिलने के पहिले अनेक राजा महाराजओंको अपनी विद्वत्ता और आश्वर्योत्पादक शक्ति से अपना सन्मान कर्ता बनाया था, तथा अनेक विद्वानों से शास्तर्थ करके अपना विजय-डंका बजाया था। अकबरको भी उन्होंने बहुत प्रसन्न किया था। वे प्रायः बादशाह से मिलते थे और उपदेश एवं अवधान करके बादशाह को चमत्कृत करते थे। उन्होंने 'कृपारसकोश' नाम का एक सुंदर संस्कृत काव्य भी रचा था। उसमें १२८ श्लोक हैं। श्लोक बादशाह ने जो दया के कार्य किये थे उनके वर्णन से परिपूर्ण हैं। यह काव्य वे अकबर बादशाह को सुनाते थे। बादशाह बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता के साथ, अपनी प्रशंसा के इस काव्य को सुनता था। हिरविजयसूरि की तरह शान्तिचंद्रजी को भी बादशाह बहुत मानता था। इसीलिए इनके आग्रह से उसने एक ऐसा फर्मान निकाला था, जिसकी रूह से, बादशाह का जन्म जिस महीने में हुआ उस सारे महीनेमें, रविवार के दिनोंमें, संक्रान्तिके दिनोंमें, और नवरोज के दीनोंमें कोई भी व्यक्ति जीवहिंसा नहीं करसकती थी।

कहा जाता है कि, बादशाह जब लाहोरमें था तब शान्तिचंद्रजी भी वहाँ थे। ईदके पहिले दिन वे बादशाह के पास गये। अवसर देखकर उन्होंने बादशाह को कहा:- "मैं यहाँ से विहार करना चाहता हूँ।" बादशाहने सविस्मय पूछा:- "सहसा यह विचार कैसे हो गया?" उन्होंने उत्तर दिया:- "मैंने सुना है कि, कल ईद है। सैकड़ों नहीं हजारों नहीं, बल्कि लाखों जीवों का कल वध होने वाला है। उन पशुओंका मृत्यु-आर्तक्रंदन मैं न सुन सकूँगा। मेरा हृदय इस हत्याके नामसे ही काँप रहा है। यही कारण है कि, मैं आपही यहाँसे चला जाना चाहता हूँ।"

शान्तिचंद्रजीने उस मसय 'कुरानेशरीफ' की कई आयतें बताईं, जिनका यह अभिप्राय था कि, रोजे सिर्फ़ शाक और रोटी खानेहीसे

दर्गाह-इलाहीमें कुबूल हो जाते हैं । हरेक रूह-जीव पर महरबानी रखना चाहिए ।

यद्यपि बादशाह इस बातसे अपरिचित नहीं था । वह भली प्रकारसे जानता था । मुख्यतया हीरविजयसूरिजीसे मिलने बाद उसको निश्चय हो गया था कि, जीवों को मारने में बहुत बड़ा पाप है । 'कुरानेशरीफ़' में भी जीव-हिंसाकी आज्ञा नहीं है । उसमें भी महेर-दया करने की ही आज्ञा दी गई है; तथापि विशेष रूप से निश्चय करने के लिए अथवा अपने सर्दार-उमरावों को निश्चय करा देने के लिए उसने अबुलफ़ज्जल को, अन्यान्य मौलवियों को और सर्दार-उमरावों को बुलाया और मुसलमानों के माननीय धर्मग्रंथोंको पढ़वाया । तत्पश्चात् उसने लाहोरमें ढिंडोरा पिटवाया कि, - कल-ईदके दिन कोई भी आदमी किसी जीवको न मारे ।

बादशाह के इस फर्मान से करोड़ों जीवोंके प्राण बचे । श्रावकोंने स्वयं शहरमें फिरकर इस बातकी निगहबानी की कि, कोई मनुष्य गुप्त रूपसे किसी जीवको न मार डाले ।

इसके बाद उन्होंने बादशाहको उपदेश देकर मुहर्रमके महीनेमें और सूफी लोगों के दिनोंमें जीवहिंसा बंद कराई । 'हीरसौभाग्य' काव्यके कर्ताका कथन है कि बादशाहने अपने तीन लड़कों-सलीम, (जहाँगीर) मुराद और दानिअल का जन्म जिन महीनोंमें हुआ था उन महीनों के लिए भी जीवहिंसा-निषेधका फर्मान निकाला था । इस तरह सब मिलाकर एक वर्षमें छः महीने और छः दिनके लिए अकबरने अपने सारे राज्यमें, जीवहिंसा नहीं होने के फर्मान निकाले थे । इस कथन के सत्यासत्यका निर्णय करना आगे के लिए छोड़ कर, यह बताना आवश्यक है कि, शान्तिचंद्रजीने अकबरके पाससे जीवहिंसाके इतने कार्य कैसे कराये ? कहा जाता है कि, खास कारण 'कृपारसकोश' नामक काव्य है । अस्तु ।

शान्तिचंद्रजीने उपर्युक्त फर्मानों के अलावा 'जजिया' बंद कराने का फर्मान भी प्राप्त किया था । इन फर्मानों को प्राप्त करने के बाद के बादशाह की सम्मति लेकर गुजरात में आये और सिद्धपुर में श्रीहीरविजयसूरि से मिले । गुजरातमें आये तब वे नथु मेवाड़ा को साथ लाये थे । शान्तिचंद्रजी के पश्चात् भानुचंद्रजी बादशाह के पास रहे थे । ये वे ही भानुचंद्रजी हैं कि जो बादशाह के धर्मसभा के १४० वें नंबर के (पाँचवीं श्रेणी के) सभासद थे ।

भानुचंद्र और सिद्धिचंद्र-इन दोनों गुरु शिष्योंने अकबरके पास रहकर अच्छी ख्याति प्राप्त की । ख्याति ही नहीं प्राप्त की, बल्कि वे अपनी विद्वत्ता और चमत्कारिणी विद्या के प्रभावसे बादशाह के आदरास्पद भी हुए । बादशाह जब कभी फतेहपुर या आगरा छोड़कर बाहर जाता था तब भानुचंद्रजी को भी अपने साथ ले जाता था । बादशाह सवारी पर जाता था । तब भानुचंद्रजी तो अपने आचार के अनुसार पैदल ही जाते थे । भानुचंद्रजी पर बादशाहकी द्रढ़ श्रद्धा थी । उसको निश्चय हो गया था कि इन महात्मा के वचनों में सिद्धि है । ऐसी श्रद्धा होने के कई कारण भी थे ।

एक बार बादशाह के सिरमें अत्यंत पीड़ा हुई । वैद्यों और हकीमोंने अनेक उपचार - इलाज किये मगर किसीसे कोई लाभ नहीं हुआ । अन्तमें उसने भानुचंद्रजीको बुलाया और अपनी शिरःपीड़ाका हाल सुनाया, उनका हाथ लेकर अपने शिरपर रख्खा । भानुचंद्रजीने मधुर शब्दोंमें कहा: - "आप चिन्ता न करें । पीड़ा शीघ्र ही मिट जायगी ।" थोड़ी ही देरमें बादशाह का दर्द मिट गया । यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि, इसमें किसी यंत्र-मंतकी करामत न थी । इसका कारण था, बादशाहका भानुचंद्रजीके वचनों पर अटल विश्वास और भानुचंद्रजी का निर्मल चारित । श्रद्धा और शुद्ध चारितका संयोग कौनसा कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है ?

बादशाह की शिरःपीड़ा मिटी, इसकी खुशी मनाने के लिए उमरावोंने पाँच सौ गउएँ एकत्रित कीं। बादशाहको जब यह बात मालूम हुई तब उसने उमरावोंसे पूछा:-“तुमने इतनी गउएँ क्यों जमा की हैं ?” उन्होंने उत्तर दिया:-“हुजूरका सिरदर्द मिट गया इसकी खुशीमें ये गाये गुर्बान की जायँगी।” बादशाह कुछ होकर बोला:- “अप्सोस ! मेरे आराम होनेकी खुशीमें दूसरोंकी कुर्बानी ! दूसरों को खुश करने के बजाय उनको बिलकुल ही दुनिया से उठा देना!! इनको फौरन् छोड़ दो और बेखोफ़ फिरने दो ।” तत्काल ही सारी गाये छोड़ दी गई।

भानुचंद्रजी इस बातको सुनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने बादशाहके पास जाकर उसको आशीर्वाद दिया।

बादशाह जब काश्मीर गया था, तब भानुचंद्रजी भी उसके साथ गये थे।

कहा जाता है कि राजा बीरबलने एकबार अकबरसे कहा:-

“मनुष्य के काम में आनेवाले फल-मूल घास पात आदि सब पदार्थ सूर्यही के प्रताप से उत्पन्न होते हैं। अंधकार को दूर कर जगत् में प्रकाश फैलानेवाला भी सूर्य ही है। इसलिए आपको सूर्य की आराधना करनी चाहिए ।”

बीरबल के इस अनुरोध से बादशाह सूर्य की उपासना करने लगा था। बदाउनी लिखता है कि:-

“A second order was given that the sun should be worshipped four times a day, in the morning and evening, and at noon and midnight. His Majesty had also one thousand and one Sanskrit names for the sun collected, and read them daily, devoutly turning towards the sun.”

(Al-badaoni, translated by W.H.)  
Lowe M.A. Vol. II p.332.)

अर्थात् - दूसरा यह हुक्म दिया गया था कि, सवेरे, शाम, दुपहर और मध्यरात्रि में - इस प्रकार दिन में चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिए। बादशाहने भी सूर्य के एक हजार एक नाम जाने थे और सूर्याभिमुख होकर भक्तिपूर्वक उन नामों को बोलता था।

इस तरह हरेक लेखक लिखता है कि - अंकबर सूर्यकी पूजा करता था। मगर किसी ने यह नहीं बताया कि, उसने सूर्य के एक हजार एक नाम किस के द्वारा प्राप्त किये थे अथवा उसको सूर्य के नाम किसने सिखाये थे ? जैनग्रंथों में इसके संबंध में बहुतसी बातें लिखी गई हैं। ऋषभदास कवि तो ‘हीरविजयसूरिस’ में यहाँ तक लिखता है कि,-

“पातशाह कास्मीरं जाय, भाणचंदं पुंठे पणि थाय,  
पूछइ पातशा ऋषिने जोइ, खुदा नजीक कोने बळी होइ ॥१९॥

भाणचंद बोल्या तत्खेव, निजीक तरणी जागतो देव,  
ते समर्यो करि बहु सार, तस नामिं ऋष्डि अपार ॥२०॥

हुओ हकम ते तेणीवार, संभलावे नाम हजार,  
आदित्य ने अरक अनेक, आदिदेवमां घणो विवक ॥२१॥

इससे मालूम होता है कि, बादशाह जब काश्मीर गया था, तब उसने भानुचंद्रजी से आराधना के लिए पूछा और उनके बताने पर वह सूर्य की आराधना करने लगा। भानुचंद्रजीने उसको सूर्य के एक हजार नामों का स्तोत्र भी सुनाया और सिखलाया था। कवि आगे चलकर यह भी लिखता है कि, बादशाह भानुचंद्रजी को प्रति रविवार स्वर्ण के रत्नजडित सिंहासन पर बिठलाकर उनके मुखसे सूर्य के एक हजार आठ नामों का स्तोत्र सुनता था।

इस के सिवा एक प्रबल प्रमाण और भी है। वह यह है कि,- भानुचंद्रजीने बादशाह को सुनाने और सिखाने के लिए एक हजार

एक नामों का जो स्तोत्र बनाया था उसकी एक हस्त लिखित प्रति पूज्यपाद गुरुवर्य शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के पुस्तकभंडार में है। उसका आरंभिक श्लोक यह है:-

“नमः श्रीसूर्यदेवाय सहस्रनामधारिणे ।  
कारिणे सर्वसौख्यानां प्रतापाभ्दुततेजसे ॥

अन्त का भाग उसका इस प्रकार है :-

“यस्त्वदं शृणुयान्नित्यं पठेद्वा प्रयतो नरः ।  
प्रतापी पूर्णमायुश्च करस्थास्तस्य संपदः ॥  
नृपाग्निस्करभयं व्याधिभ्यो न भयं भवेत् ।  
विजयी च भवेन्नित्यं स श्रेयः समवान्यात् ॥  
कीर्तिमान् सुभगो विद्वान् स सुखी प्रियदर्शनः ।  
भवेद्वृष्टशतायुश्च सर्वबाधाविवर्जितः ॥  
नास्त्रां सहस्रमिदमंशुमतः पठेद्यः  
प्रातः शुचिनियमवान् सुसमा धियुक्तः ।  
दुरेण तं परिहरन्ति सदैव रोगा  
भीताः सुपर्णमिव सर्वमहोरोगेन्द्राः ॥

इति श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोतं सम्पूर्ण ॥ अमुं श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोतं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वी पतिकोटीरकोटिसंघट्ठित पदकमलातिखंडाधिपति दिलीपतिपातिसाहि श्रीअकब्बरसाहिजलालदीनः प्रत्यहं शृणोति सोऽपि प्रतापवान् भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

इस से स्पष्ट मालूम होता है कि, बादशाह सूर्य के हजार नाम जरूर सुनता था और सुनाते थे भानुचंद्रजी। कादम्बरी की टीका, विवेकविलास की टीका और भक्तामर की टीका आदि अनेक ग्रंथों में भानुचंद्रजी के नामके पहिले 'सूर्यसहस्रनामाध्यापकः' विशेषण का

प्रयोग आया है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि, भानुचंद्रजी ही बादशाह को सूर्य के हजार नाम सिखलानेवाले थे। अस्तु ।

काश्मीर पहुँचकर बादशाह न एसे तालाब के किनारे मुकाम किया जो चालीस कोस के घेरे में था। तालाब पूरा भरा हुआ था। 'हीरसौभाग्यकाव्य' के कर्ता लिखते हैं कि इस तालाब<sup>१</sup> को 'जयनल' नामके राजाने बंधवाया था। उसका नाम 'झैनलंका' था। वहाँ की भयकंर सर्दी, भानुचंद्रजी को सहन करनी पड़ती थी। बादशाह वहाँ भी निरंतर प्रति रविवार सूर्य के हजार नाम सुनता था। एक बार उसने भानुचंद्रजी से पूछा: - "भानुचंद्रजी ! आपको यहाँ कोई तकलीफ तो नहीं है ?" भानुचंद्रजी ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया: - "सम्राट् ! हम साधु हैं। हमें कैसी ही तकलीफ हो सहनी पड़ती है; शान्ति से तकलीफ बर्दाशत करना ही हमारा धर्म है।" बादशाहने कहा: - "यह तो ठीक है, मगर आपको किसी चीजकी आवश्यकता हो तो बतलाइए।" भानुचंद्रजी बोले: - "आजकल सर्दी बहुत ज्यादा पड़ती है, इसलिए शरीर में थोड़ी उण्णता रहे तो सरदी का असर कम हो।" बादशाहने कहा: - "यह तो कोई बड़ी बात नहीं है। दर्बार में दुशाले वगेरा गरम कपड़े हैं। आप जितने आवश्यक हों ले सकते हैं।" भानुचंद्रजीने कहा: "मैं दुशालोंसे शरीर में उण्णता लाना नहीं

१. आईन-ई-अकबरी के दूसरे भाग के, जैरिकूत अंग्रेजी अनुवाद के पृ. ३६४ में, तथा बदाउनी के दूसरे भाग के लवकूत अंग्रेजी अनुवाद के पृ. ३९८ में लिखा है कि- इस तालाबको बंधवानेवाला काश्मीर का बादशाह 'झैन-उल-आबिदीन', जो कि-इ.स. १४१७ से १४६७ तक हुआ है, वह था। और इस तालाब को झैनलंका (Zainlanka) कहते थे।

बंकिमचंद्रलाहिडी कृत 'सम्राट् अकबर' नामक बंगाली ग्रंथ के १८४ वे पेज में भी इसका वर्णन आया है। 'हीरसौभाग्य काव्य' के कर्तने जो 'जयनल' नाम दिया है, सो ठीक नहीं है।

चाहता । मेरे शरीर को सर्दी से बचानेवाली उष्णता है धर्म के कार्य ॥” बादशाह बोला: - “तब आप क्या चाहते हैं ?” भानुचंद्रजीने कहा: “मैं यह चाहता हूँ कि, हमारे पवित्र तीर्थ सिद्धाचल (पालीताना) की याता करने के लिए जानेवालों से जो ‘कर’ वहाँ पर लिया जाता है वह बंद हो जाय ।”

बादशाह ने यह बात मंजूर की । उसने बाद में फर्मानपत्र लिखकर हीरविजयसूरि के पास भेज दिया ।

‘हीरसौभाग्य काव्य’ के कर्ताका कथन है कि, सिद्धाचलजी की याता के लिए जानेवाले से पहिले ‘दीनार’ (सोने का सिक्का), फिर पाँच महमुदिका और फिर तीन महमंदिका लिये जाते थे । अन्तमें बादशाहने यह ‘कर’ बंद कर दिया था ।

कह जाता है कि, बादशाह जब काश्मीर से लौटा तब वह हिमालय के विषम मार्ग ‘पीरपंजाल की घाटी’ में हो कर आया था ।

इस भयानक घाटी में होकर पैदल गुजरते भानुचंद्रजी और उनके साथ के अन्य साधुओं को बहुत कष्ट उठाना पड़ा । घाटी के तीखे कंकरों और पत्थरों से उनके पैर फटने लगे, इससे चलना बड़ा ही कष्ट साध्य हो गया । यह स्थिति देखकर बादशाहने उनको सवारी में चढ़ने के लिए आग्रह किया । उन्होंने साधुधर्म के विरुद्ध होने से सवारी में चढ़ने से इन्कार कर दिया । बादशाह ने भी उनको ऐसी अवस्था में छोड़कर आगे जाना मुनासिब नहीं समझा । वहाँ पड़ाव डाला । तीन दिन के बाद भानुचंद्रजी व अन्य साधुओं के पैर ठीक हुए तब बादशाहने वहाँ से कूच किया ।

जब इस मुसाफरी से लौट कर आये, तब लाहोर में बड़ा भारी उत्सव हुआ । वहाँ के श्रावकों ने भी भानुचंद्रजी के उपदेश से बीस हजार रूपये खर्च कर एक बड़ा उपाश्रय बनवाया ।

इसी तरह बादशाह जब ‘बुर्हानपुर’ गया था, तब भी भानुचंद्रजी को अपने साथ ले गया था । कहा जाता है कि, यहाँ नगरको लूटने से बचाने में भानुचंद्रजी का उपदेश ही काम आया था । इस से वहाँ के निवासी इन से बहुत प्रसन्न हुए थे ।

वहाँ से वापिस आगे आने पर भी उन्होंने बादशाह से अनेक जीवदया के कार्य कराये थे । एक बार बादशाह के सामने किसी विद्वान् बाह्यण से शास्त्रार्थ हुआ । पंडित पराजित हुआ । इससे बादशाह बहुत ही खुश हुआ ।

भानुचंद्रजीको ‘उपाध्याय’ की जो पदवी थी, वह भी बादशाह की ही प्रसन्नता का परिणाम था । कवि ऋषभदासने ‘हीरविजयसूरिसार’ में इस विषय में जो कुछ लिखा है उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं ।

एक बार मूल नक्षत्र में बादशाह के पुत्र शेखुजी के घर पुत्री पैदा हुई । ज्योतिषियोंने कहा कि, यदि यह लड़की जिंदा रहेगी तो बहुत बड़ा उत्पात होगा । इसलिए इसको पानी में बहा दो । जब शेखुने भानुचंद्रजी से इस विषय में सलाह ली तब उन्होंने कहा कि, ऐसा करके बाल-हत्या का पाप करने की कोई आवश्यकता नहीं है । ग्रह-शान्ति के लिए अष्टोत्तरीस्तात्र पढ़ाना चाहिए । बादशाह और शेखु दोनों को यह बात पसंद आई । उन्होंने ज्योतिषियों के कथनानुसार न कर भानुचंद्रजी के कथनानुसार अष्टोत्तरीस्तात्र पढ़ाने का कर्मचंद्रजी को हुक्म दिया । बड़े उत्सव के साथ सुपार्श्वनाथ का अष्टोत्तरीस्तात्र पढ़ाया गया । लगभग एक लाख रुपये खर्च हुए । श्रीमानसिंहजीने (खरतर गच्छीय श्रीजिनसिंहसूरिने) यह स्तात्र पढ़ाया था । इस अपूर्व उत्सव में बादशाह और शेखुने भी भाग लिया । इस स्तात्रवाले दिन तमाम श्रावकश्राविकाओंने आंबिल की तपस्या की थी । ऐसे पवित्र मांगलिक कार्य से बादशाह और शेखु का विघ्न दूर हुआ । जिनशासन की भी खूब प्रभावना हुई ।

ऐसे उत्तम कार्य से भानुचंद्रजी की चारों तरफ खूब प्रशंसा हुई। एक बार बादशाह ने श्रावकों से पूछा: - “भानुचंद्रजी को कोई पदवी है या नहीं? है तो कौन सी है?” श्रावकोंने उत्तर दिया: “‘पन्न्यास’ की पदवी है।” तब बादशाहने हीरविजयसूरि को पत लिखा और उसमें भानुचंद्रजी को ‘उपाध्याय’ की पदवी देने के लिए अनुरोध किया। सूरिजीने वासक्षेप मंत्र कर बादशाह के पास भेजा। वासक्षेप आने पर बड़ी धूमधाम के साथ भानुचंद्रजी को ‘उपाध्याय’ की पदवी दी गई। उस समय शेख अबुल्फज्जल ने पचीस घोड़े और दश हजार रुपये का दान किया था। तदुपरान्त संघ ने भी बहुत सा दान किया था।

‘हीरसौभाग्यकाव्य’ के रचयिता का कथन है कि, - “जब बादशाह लाहोर में था, तब उसने हीरविजयसूरिजी को लिखकर उनके प्रधानशिष्य-पट्टवर विजयसेनसूरि को बुलाया था। उन्होंने लाहोर में जाकर नंदिमहोत्सव करा कर भानुचंद्रजी को ‘उपाध्याय’ की पदवी दी थी। शेख अबुल्फज्जल ने उस वक्त छःसौ रुपये और कई घोड़ों आदि का दान किया था।” अस्तु।

बात दोनोंमें से कोई सी भी सत्य हो, मगर यह तो निर्विवाद है कि भानुचंद्रजी को ‘उपाध्याय’ पदवी लाहोर में बादशाह के सामने उसी के अनुरोध से हुई थी।

कहा जाता है कि, भानुचंद्रजी ने अकबर के पुत्र जहाँगीर और दानीआल को भी जैनशास्त्र सिखलाये थे।

ऊपर हमने दो नवीन, कर्मचंद्र और मानसिंह के, नामों का उल्लेख किया है। अतः इन दोनों महानुभावों का संक्षिप्त परिचय यहाँ करा देना आवश्यक है।

कर्मचंद्र एक बार बीकानेर के महाराज कल्याणमल के मंत्री

थे। धीरे धीरे उन्नत होते हुए अपने बुद्धिबल और कार्यचारुर्य से उसने अकबर का मंत्रीपद प्राप्त किया था। मंत्री कर्मचंद्र, खरतरगच्छ का अनुयायी, जैन था। इसलिए वह जैनधर्म की उन्नति के कार्य में बड़े उत्साह के साथ योग देता था। बादशाह भी उससे बहुत स्वेह करता था। कर्मचंद्र ही के कारण खरतरगच्छ के आचार्य श्रीजिनचंद्रसूरि अकबर के दरबार में गये थे। ‘कर्मचंद्र चरित्रादि’ कई ग्रन्थों से मालूम होता है कि, जिनचंद्रसूरि ने भी बादशाह पर अच्छा प्रभाव डाला था। उन के उपदेश से उसने आषाढ़ सुदी ९ से १५ तक सात दिन तक कोई जीव हिंसा न करे, इस बातका फर्मान निकाला था और उसकी एक एक नकल अपने ग्यारह प्रान्तों में भेज दी थी। यह उस समय की बात है कि, जब बादशाह लाहोर में रहता था। और भानुचंद्रजी आदी भी वहीं रहते थे।

दूसरा नाम मानसिंह का है। ये वे ही मानसिंह हैं जो जिनचंद्रसूरि के शिष्य थे और जिनका प्रसिद्ध नाम जिनसिंहसूरि था। बादशाह जब काश्मीर गया था, तब वह भानुचंद्रजी की तरह मानसिंह (जिनसिंहसूरिजी) को भी साथ ले गया था। जिनचंद्रसूरि लाहोरही में रहे थे। काश्मीर की मुसाफिरी से लौटकर आने पर मानसिंह को बड़ी धूमधाम से सूरि पद दिया गया था, और उसी समय उनका नाम जिनसिंहसूरि रखा गया था और मानसिंहजी को आचार्य पदवी दी,

१. यह असली फर्मानपत्र, सबसे पहिले परमगुरु शास्त्र-विशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज को विं सं० १९६८ के साल में लखनऊ के खरतरगच्छ का पुस्तक भंडार देखते हुए मिला था और उसकी एक नकल सरस्वती के विद्वान् संपादक श्रीयुत महावीरप्रसादजी द्विवेदी को दी गई थी। उसको उन्होंने सं० १९१२ के जूनके ‘सरस्वती’ के अंक में प्रकाशित किया था। इस फर्मानपत्र में बादशाहने हीरविजयसूरिको, उनके उपदेश से, पर्युषण के आठ और दूसरे चार ऐसे बारह दिनतक जीवरक्षा का जो फर्मान दिया था उसका भी उल्लेख है।

इसकी खुशी में बादशाह ने खंभात के बंदरों में जो हिंसा होती थी उसको बंद कराई थी। लाहोर में भी एक दिन के लिए कोई जीव हिंसा न के इस बात का प्रबंध किया था। मंत्री कर्मचंद्र ने इस अवसर पर बड़े उत्साह के साथ बहुत सा धन उत्सवार्थ खर्च किया था।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि, जब शान्तिचंद्रजी बादशाह के पास से रवाना हुए थे तब भानुचंद्रजी के साथ उनके सुयोग्य शिष्य सिद्धिचंद्रजी भी रखे गये थे। उनके सिवा उदयचंद्रजी आदि कई विद्वान् शिष्य भी वहाँ रहे थे। बादशाह सिद्धिचंद्रजी का भी बहुत आदर करता था। इससे सरदार उमराव भी उन्हें बहुत मानते थे। कहा जाता है कि, एक बार बुरहानपुर में बत्तीस चौर मारे जाते थे; उस समय दयाभाव से प्रेरित होकर वे बादशाह की आज्ञा ले, स्वयं वहाँ गये थे और उन चोरों को छुड़ाया था। 'जयदास जपो' नामका एक लाड बनिया हाथी तके कुचल कर मारा जाता था उसको भी उन्होंने छुड़ाया था।

**सिद्धिचंद्रजी** जैसे विद्वान् थे वैसे ही शतावधानी भी थे। इससे बादशाह उन पर प्रसन्न रहता था। उनके चमत्कार से चमकृत होकर ही उसने उन्हें 'खुशफ़हम' की मानप्रद पदवी दी थी। उन्होंने फारसी भाषा पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था इससे कई उमरावों के साथ भी उनकी अच्छी मुलाकात हो गई थी।

भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान, भिन्न भिन्न देश के मनुष्यों को उपदेश देने में अच्छी मदद देता है। कोई कितना ही विद्वान् हो, मगर यदि उसको भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान नहीं होता है तो वह अपने मनका भाव चाहिए उस तरह से अन्यान्य भाषाएँ जाननेवालों को नहीं समझा सकता है। केवल हिन्दी भाषा को जाननेवाला विद्वान्

अपनी विद्या से बंगालियों को लाभ नहीं पहुँचा सकता है और बंगाली भाषा ही जाननेवाले विद्वान् की विद्या हिन्दी या गुजराती भाषियों के लिए निरुपयोगी है। इसी लिए तो प्राचीनकाल में जिसको आचार्य पदवी दी जाती थी उसकी पहिले यह जाँच करली जाती थी कि, वह विद्वान् होने के साथ बहुत सी भाषाओं का जानकार भी है या नहीं? अर्थात् आचार्य को भिन्न भिन्न देशों की भाषाएँ भी सीखनी पड़ती थीं। जो लोग उपदेशक हैं उन्हें इस बातका पूरा ख्याल रखना चाहिए।

ऋषभदास कविका कहना है कि, बादशाह ने, सिद्धिचंद्रजी के साधुधर्म की परीक्षा करने के लिए उन्हें पहिले तो बहुत धनसम्पत्ति का लोभ दिखाया; जब वे लुब्ध न हुए तब उन्हें कत्ल करादेने की धमकी दी, परंतु सिद्धिचंद्रजी अपने धम में दृढ़ रहे। उन्होंने लोभ और धमकी का उत्तर इन शब्दों में दियाथा:- "इस तुच्छ लक्ष्मी का और सुख सामग्रियों का मुझे क्या लोभ दिखाते हैं? अगर आप सारा राज्य देने को तैयार होंगे तो भी मैं लेने को तैयार न होऊँगा। जिसको तुच्छ, हेय समझकर छोड़ दिया है उसे पुनः ग्रहण करना थूके को निगलना है। इन्सान ऐसा नहीं कर सकता। और मौत? मौत का डर मुझे अपने चारित से नहीं डिगा सकता। आज या दश दिन बाद नष्ट होनेवाला यह शरीर मुझे धर्म से बढ़ कर प्यारा नहीं है।"

**सिद्धिचंद्रजी** के कथन से बादशाह को बहुत आनंद हुआ। उसने भक्तिपूर्वक उनकी चरणवंदना की।

भानुचंद्रजी और सिद्धिचंद्रजी प्रायः बादशाह के सामने विजयसेनसूरि की प्रशंसा करते रहे थे। बादशाह को भी यह बाद याद थी कि हीरविजयसूरि ने अपने प्रधान शिष्य विजयसेनसूरि को भेजने का वचन दिया है। एक बार बादशाह जब लाहोर में था, तब उसके हृदय में हीरविजयसूरि को बुलाने की इच्छा हुई। असने

अबुलफ़ज्जल के सामने अपनी इच्छा प्रकट की । अबुलफ़ज्जल ने कहा: - “हीरविजयसूरि वृद्ध हो गये हैं इसलिए उनको इस समय यहाँ तक बुलाना उचित नहीं है ।” तत्पश्चात् उसने एक आमंत्रण पत्र विजयसेनसूरीको बुलाने के लिये भेजा, उसमें लिखा: -

“यद्यपि आप विरागी हैं परन्तु मैं राणी हूँ । आपने संसार के सारे पदार्थों का मोह छोड़ दिया है इसलिए संभव है कि, आपने मेरा भी मोह छोड़ दिया हो और मुझे भुला दिया हो; परन्तु महाराज ! मैं आपको नहीं भूला । समय समय पर आप मुझे कोई न कोई सेवाकार्य अवश्यमेव बताते रहें । इससे मैं समझूँगा कि, मुझ पर गुरुजी की कृपा अब भी वैसी ही है; और यह समझ मुझे बहुत आनंदायक होगी । आपको स्मरण होगा कि, रवाना होते समय आपने मुझे विजयसेनसूरि को यहाँ भेजने का वचन दिया था । आशा है आप उन्हें यहाँ भेजकर मुझे विशेष उपकृत करेंगे ।”

उस समय सूरिजी राधनपुर में थे । बादशाह का पत्र पढ़कर सूरिजी बड़े विचार में पड़े । अपनी वृद्धावस्था में विजयसेनसूरि को अपने से जुदा करना - लंबी मुसाफिरी के लिए रवाना करना - उन्हें अच्छा नहीं लगता था, साथ ही बादशाह को जो वचन दिया था उसको तोड़ने का भी साहस नहीं होता था । अन्त में उन्होंने विजयसेनसूरि को भेजना ही स्थिर किया । उन्होंने भी गुरुकी आज्ञाको मस्तक पर चढ़ाकर वि० सं० १६४९ मिगसर सुदी ३ के दिन प्रधाण किया ।

वे पाटन, सिद्धपुर, मालवण, सरोत्तर, रोह, मुंडथला, कासद्रा, आबू, सीरोही, सादड़ी, राणपुर, नाडलाई, बांता, बगड़ी, जयतारण, मेडता, भरुंदा, नारायणा, झाक, साँगानेर, वैराट, बेरोज, रेवाड़ी, विक्रमपुर, झङ्घङ्घर, महिमनगर और समाना होते हुए लाहोर पहुँचे । लाहोर पहुँच ने के पहिले जब वे लुधियाने के पास पहुँचे, तब फैजी उनकी अगवानी

के लिए आया था । नंदिविजयजी ने अष्टावधान सिद्ध करके बताया । फैजी इससे प्रसन्न हुआ । उसने बादशाह के पास जाकर उनकी बहुत प्रशंसा की । विजयसेनसूरि जब लाहोर से पाँच कोश दूर रहे तब भानुचंद्रजी आदि उनके सामने आये । लाहोर में प्रवेश करने के पहिले उन्होंने खानपुर नामक स्थान में मुकाम किया । विजयसेनसूरि के प्रवेशोत्सवके मौके पर बादशाहने हाथी, घोड़े, बाजा आदि बादशाही सामान दे कर प्रवेशोत्सवकी शोभा को द्विगुण कर दिया । इस तरह के उत्सव सहित विजयसेनसूरी ने लाहोर में वि० सं० १६४९ (ई० सं० १५९४) के ज्येष्ठ सुदि १२ के दिन प्रवेश किया ।

विजयसेनसूरि भी अकबर के पास बहुत दिन तक रहे । उन्होंने अपनी विद्वत्ता से बादशाह को चमत्कृत करने में कोई कसर नहीं की । कहा जाता है कि, विजयसेनसूरि पहिले पहिल बादशाह से लाहोर के ‘काश्मीरीमहल’ में मिले थे । हम पहिले पहिले यह बता चुके हैं कि नंदिविजयजी अष्टावधान साधते थे । ये विजयसेनसूरि के शिष्य थे । उन्होंने एक बार बादशाह की सभा में भी अष्टावधान साधा, उस समय बादशाहक सिवा मारवाड के राजा मालदेव का पुत्र ‘उदयसिंह’, जयपुर के राजा मानसिंह<sup>२</sup> कच्छवाह, खानखाना, अबुलफ़ज्जल, आजमखाँ, जालौर का राजा ग़जनीखाँ<sup>३</sup> और अन्यान्य

१. यह उदयसिंह पन्द्रहसौ सेनाका स्वामी था और ‘मोटाराजा’ के नामसे ख्यात था । विशेष जानने के लिए ब्लॉकमैन कृत आईन-इ-अकबरी के प्रथम भागके अंग्रेजी अनुवाद का ४२९ वाँ पृष्ठ देखना चाहिए ।

२. यह मानसिंह जयपुर के राजा भगवानदास का पुत्र था । विशेष जानकारी के लिए ब्लॉकमैन कृत आईन-इ-अकबरी के प्रथम भागके अंग्रेजी अनुवाद का ३३९ वाँ पृष्ठ देखना चाहिए ।

३. यह चारसौ सेना का नायक था । विशेष जानने के लिए ब्लॉकमैन कृत आईन-इ-अकबरी के प्रथम भागके अंग्रेजी अनुवाद का ४९३ वाँ पृष्ठ देखो ।

राजामहाराजा एवं राजपुरुष वहाँ मौजूद थे । इन सब के बीच में उन्होंने अष्टावधान साधा था । नंदिविजयजी का इस प्रकार का बुद्धिकौशल्य देखकर बादशाह ने उनको 'खुशफ़हम' की पदवी से विभूषित किया था ।

**विजयसेनसूरि** ने थोड़े ही समय में बादशाह पर अच्छा प्रभाव डाला था । इससे उनके लिए बादशाह के हृदय में पूज्यभाव बढ़ गया । मगर जैनधर्म के कुछ द्वेषी मनुष्यों के लिए यह बात असह्य हो गई ।

भारतवर्ष की अवनतिका कारण द्वेषभाव बताया जाता है । वह मिथ्या नहीं है । जबसे इस ईर्ष्यावृत्तिने भारत में प्रवेश किया है तभी से देश प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है । कइयों के तो आपस में नित्यवैर ही हो गया है । ऐसे लोगों में 'यतियों' (साधुओं) 'ब्राह्मणों' की गिनती पहिले की जाती है । इसी लिए वैयाकरणोंने 'नित्यवैरस्य' इस समास सूत्र में 'अहिनकुलम्' (सर्प और नकुल) आदि नित्य वैरवालों के उदाहरणों के साथ 'यतिब्राह्मणम्' उदाहरण भी दिया है । यद्यपि यह प्रसन्न की बात है कि, आज इस जीतेजागते वैज्ञानिक युगमें धीरे धीरे इस वैर का नाश होता जा रहा है और समय को पहिचाननेवाले यति (साधु) और ब्राह्मण आपस में प्रेम से रहने लगे हैं । मगर हम जिस समय की बात कह रहे हैं उस समय 'यतिब्राह्मणम्' का उदाहरण विशेष रूपसे चरितार्थ होता था, इतिहास की कई घटनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं ।

**विजयसेनसूरि** लाहोर में जब अकबर के पास थे उस समय भी एक ऐसी ही बात हो गई थी । कहा जाता है कि, - जब अकबर विजयसेनसूरि का बहुत ज्यादा सन्मान करने लगा और बार बार उनका उपदेश सुनने लगा । वहाँ के जैन बड़े बड़े उत्सव करते उनमें भी बादशाह सहायता देने लगा, तब कई असहनशील ब्राह्मणों

ने मौका देखकर बादशाह के हृदय में यह बात जमा दी कि, जैनलोग जब परमकृपालु परमात्माही को नहीं मानते हैं तब उनका मत फिर किस कार्य का है ? जो लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं उनकी सारी क्रियाएँ निकम्मी हैं ।'

कहावत है कि - 'राजालोग कानों के कच्चे और दूसरों की आँखों से देखनेवाले होते हैं ।' यह कहावत सर्वथा नहीं तो भी कुछ अंशों में सत्य जरूर है । प्रायः राजा लोग अपने पास रहनेवाले लोंगे के कथनानुसार वर्ताव करनेवाले ही होते हैं । किसी बातकी पूरी तरह से जाँच करके अपनी बुद्धि के अनुसार फैसला करनेवाले बहुत ही कम होते हैं । यही सबब है कि, भारतवर्ष में अब भी कई देशी राज्यों की प्रजा इतनी दुःखी है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता । पार्श्वर्ती मनुष्यों के हाथका खिलौना बना हुआ राजा यदि राजधर्म को भूल जाय तो इस में कोई आश्र्य की बात नहीं है । जब आज के जैसे आगे बढ़े हुए जमाने में भी ऐसी दशा है तो सोलहवीं या सतहवीं शताब्दि में अकबर बादशाह यदि विद्वान् गिने जाने वाले पंडितों के बहकाने से बहक गया तो इसमें आश्र्य ही क्या है ?

ब्राह्मणों के उक्त कथन से बादशाह के दिलमें चोट लगी । उसने विजयसेनसूरि को बुलाया और अपने हार्दिक भावों को प्रकट न होने देकर उनसे ब्राह्मणों ने जो कुछ कहा था उसकी सत्यासत्यता के लिए पूछा । विजयसेनसूरि ने कहा :- "यदि इसका निर्णय करना हो तो आपकी अध्यतक्षा में एक सभा हो औ उसमें इस बात का ऊहापोह किया जाय !" बादशाहने स्वीकार किया । दिन मुकर्रिर करके सभा बुलाई गई । उसमें अनेक विद्वान् ब्राह्मण अपना मत समर्थन करने के लिए जमा हुए । जैनियों की तरफ से केवल विजयसेनसूरि, नंदिविजयजी और दो चार अन्यान्य मुनि थे । वास्तविक रूप से तो बाद करने में एक विजयसेनसूरि ही थे ।

इस सभा में दोनों पक्षोंने अपने अपने मतका प्रतिपादन किया। अर्थात् ब्राह्मणोंने यह पक्ष प्रतिपादन किया कि जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं। विजयसेनसूरि ने बताया कि, जैन ईश्वर को किस तरह मानते हैं? उसका स्वरूप कैसा है? कर्ममुक्त और सांसारिक बंधनों से छूटे हुए ईश्वर को जगत्का कर्ता मानने से - उसको जगत् रचना के प्रपञ्च में गिरने वाला मानने से - उसके स्वरूप में कैसे कैसे विकार हो जाते हैं; उसके ईश्वरत्व में कैसी कैसी बाधाएँ आ जाती हैं, सो बताया और साथ ही हिन्दुधर्मग्रंथों से यह भी सिद्ध कर दिखाया कि, जैनलोग वास्तव में ईश्वर को माननेवाले हैं। जिस स्वरूप में वे ईश्वर को मानते हैं वह स्वरूप ही वास्तव में सत्य है।<sup>१</sup>

बादशाह विजयसेनसूरि की अकाट्य युक्तियों और शास्त्रप्रमाणों से बहुत प्रसन्न हुआ उसने अध्यक्ष की हैसियत से कहा:- “जो लोग कहते हैं कि जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं वे सर्वथा जूठे हैं। जैन लोग ईश्वर को उसी तरह मानते हैं जिस तरह से कि, उसे मानना चाहिए।

इसके सिवा ब्राह्मण पंडितोंने यह भी कहा था कि, जैन लोग सूर्य और गंगा को नहीं मानते हैं। इसका उत्तर भी विजयसेनसूरि ने बहुत ही संक्षेप में, मगर उत्तमता के साथ दिया। उन्होंने कहा:- “जिस तरह हम जैनलोग सूर्य को और गंगा को मानते हैं उस तरह दूसरा कोई भी नहीं मानता है। यह बात मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। हम सूर्य को यहाँ तक मानते हैं, यहाँ तक उसका सम्मान करते हैं कि उसकी उपस्थिति के बिना जल भी ग्रहण नहीं करते हैं। यह कितना सम्मान है? यह कितनी दृढ़ मान्यता है? जरा सोचने की बात है कि, जब कोई मरजाता है तब उसके संबंधी मनुष्य, और

---

जैनों ने जो ईश्वर का स्वरूप माना है वह संक्षेप में पाँच वें प्रकरण मैं लिखा जा चुका है। इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

यदि राजा मरजाता है तो उसकी प्रजा उस समय तक अब नहीं ग्रहण करते हैं जब तक कि, उस व्यक्ति का या उस राजा का अग्निसंस्कार नहीं हो जाता है। तब, दिवानाथ - सूर्य की अस्तदशा में (रातमें) भोजन करनेवाले यदि सूर्य को मानने का दावा करते हैं तो वह दावा कहाँ तक सही हो सकता है? इस बातको हरेक बुद्धिमान समझ सकता है। इस लिए वास्तविक रूप से सूर्य को माननेवाले तो हम जैन ही हैं।

“गंगाजी को मानने का उनका दावा भी इसी तरह का है। गंगाजी को माता-पवित्र माता मानते हुए भी उसके अंदर गिर कर नहाते हैं, उसमें कुरले करते हैं। और तो क्या, विष्णा और पेशाब भी उसके अंदर डालते हैं। गतप्राण मनुष्य के मुर्देको-जिसको छूने से भी हम अभड़ते हैं - और उसकी हड्डियों को पवित्र गंगामाता के समर्पण करते हैं। यह है उनकी गंगा माता की मान्यता! यह है उनका गंगा माता का सम्मान! पवित्र और पूज्य गंगा माता की भेट में ऐसी वस्तुएँ रखनेवाले भक्तों की भक्ति के लिए क्या कहा जाय? मगर हमारे यहाँ तो गंगा के पवित्र जल का उपयोग बिंबप्रतिष्ठादि शुभ कार्यों में ही किया जाता है। इस व्यवहार से बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं कि, गंगाजी का सच्चा सत्कार हम जैन लोग करते हैं या मेरे सामने बाद करने के लिए खड़े हुए ये पंडित लोग? ”

सूरजी की इन अकाट्य और प्रभावोत्पादक युक्तियों से सारी सभा चकित हुई। पंडित निरुत्तर हुए और बादशाह ने प्रसन्न होकर विजयसेनसूरि को ‘सूरिसवाई’ की पदवी दी।

अब बार बार यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि, श्रीविजयसेनसूरि ने भी बादशाह को हीरविजयसूरि की भाँति ही आकर्षित किया था। उन्होंने बादशाह से उपदेश देकर अनेक कार्य

करवाये थे । उनमें से मुख्य ये हैं, - गाय, बैस, भैल और भैंसे की हिंसा का निषेध, मृत मनुष्य का कर लेने का निषेध, आदि । उनके उपदेश से बादशाह ने जो कार्य किये थे उनका पूरा वर्णन 'विजयप्रशास्ति काव्य' में है । पं. दयाकुशल गणिने भी 'लाभोदय रास' नामके ग्रंथ में, विजयसेनसूरि के उपदेश से बादशाह ने जो कार्य किये थे उनका वर्णन किया है । उसका भाव यह है :-

"अकबर बादशाहने गुरु को जो बच्छिशारों दीं, उनको सुनकर हृदय प्रसन्न होता है और इस तरह की माँग करनेवाले गुरु के लिए जबान धन्य धन्य कह उठती है । बादशाहने गुरुकी (विजयसेनसूरि की) इच्छानुसार सिंधु नदी में और कच्च के जलाशयों में - जिन में मच्छियाँ मारी जाती थीं - चार महीने तक जाल डालना बंद करके, वहाँ की मछलियों के प्राण बचाये । गाय, भैंस, बैल और भैंसों का मारना बंद किया, (युद्ध में) किसी को कैद नहीं करना स्थिर किया और मृतक मनुष्य का 'कर' लेना रोक दिया ।"



अब तक जो बातें लिखी गई हैं उनसे यह स्पष्ट हो चुका है कि, आचार्य श्रीहीरविजयसूरि, श्रीशन्तिचंद्र उपाध्याय, श्रीभानुचंद्र उपाध्याय और श्रीविजयसेनसूरिने अकबर बादशाह पर प्रभाव डाल कर जनहित के, धर्मरक्षा के और जीवदया के अनेक कार्य करवाये थे । गुजरात में से 'जनिया' उठवाया था । सिद्धाचल, गिरिनार, तारंगा, आबू ऋषभदेव, राजगृही के पहाड़ और सम्मेतशिखर आदि तीर्थ श्वेतांबरों के हैं । इसका एक 'परवाना' लिया था । सिद्धाचलजी में जो 'कर'

१. यह उसल परवाना अहमदाबाद के सेठ आनंदजी कल्याणजी की पेढ़ी में मौजूद है । उसका अंग्रेजी अनुवाद राजकोट के राजकुमार कॉलेज के मुन्सी महम्मद अब्दुल्लाहने किया है । इस परवाने से स्पष्टता मालूम होता है कि वह हीरविजयसूरि

प्रत्येक यात्रीसे लिया जाता था, बंद कराया, मृत मनुष्य का धन ग्रहण करने का और युद्ध में बंदी - कैदी बनाने का निषेध कराया । इनके अलावा पक्षियों को पिंजरेमें से छुड़ाना, गाय, भैंस, बैल, भैंसे आदिकी हिंसा रोकना आदि अनेक कार्य कराये थे । समय समय पर हिंसा के समय, बादशाह को उपदेश देकर हिंसा रोकी थी । सबसे महत्व का जो कार्य बादशाह से उन्होंने कराया वह समस्त मुगल राज्य में एक वर्ष में छः महीने और छः दिन तक कोई भी व्यक्ति हिंसा न करे इसका ढंगेरा था । इन दिनों की ठीक ठीक गिनती करना कठिन है । कारण, - यद्यपि हीरसौभाग्यकाव्य, हीरविजयसूरिरास, धर्मसागर की पट्टावली, पालीताने का वि० सं० १६५० का शिलालेख और जगद्गुरुकाव्य आदि जुदे जुदे अनेक जैनग्रंथों में अकबरने जीवदया पालने के जो महीने और दिन निजय किये थे उनका उल्लेख है, तथापि उनमें कई महीने मुसलमानी त्योहारों के होने से यह निर्णय होना कठिन है कि - उन महीनों के कितने कितने दिन गिनने चाहिए अथवा उनमें किन किन का समावेश हो जाता है ?

ऐसा होने पर तो स्थिर है कि, पहिले गिनाये गये हैं उनमें व

के उपदेश से दिया गया था । कई लोग कहते हैं कि उपर्युक्त तीर्थ श्वेतांबरों के नहीं हैं मगर उनका यह कथन मिथ्या है । कारण-प्रथम उपर्युक्त परवाना है, दूसरे परवाना देने के अमुक समय बाद अकबरने मंत्री कर्मचंद्रको - जो खरतरगच्छीय श्वेतांबर जैन था, जो अकबर का मंत्री था - उक्त तीर्थ दिये हैं । इसका उल्लेख बादशाह के समकालीन पं० जयसोमने भी अपने बनाये हुए 'कर्मचंद्रचरित' नामके ग्रंथ में इस तरह किया है :-

"नाथेनाथ प्रसन्नेन जैनास्तीर्थस्समेऽपि हि ।

मंत्रिसाद्धिहिता नूनं पुंडरीकाचलादयः ॥ ३९६ ॥

अर्थात् - बादशाह ने प्रसन्न होकर पुंडरीक (सिद्धाचल) आदि समस्त जैनतीर्थ मंत्री को दे दिये । इसी प्रकार 'लाभोदयरास' में भी कहा है ।

उनमें के अमुक अमुक दिनों में बादशाहने अपने समस्त राज्य में जीवहिंसा का निषेध किया था । उन दिनों में स्वयं बादशाह भी मांसाहार नहीं करता था । इस बात को अन्यान्य जैनेतर लेखकोंने भी माना है । बंकिमचंद्र लाहिड़ी ने अपने 'सप्राट अकबर' नामक बंगाली ग्रंथ में लिखा है :-

"सप्राट रविवारे, चंद्र औ सूर्यग्रहणदिने एवं आर ओ अन्यान्य अनेक समये कोन मांसाहार करितेन ना । रविवार ओ आर ओ कतिपय दिने पशुहत्या करिते सर्व साधारण के निषेध करिया छिलेन ।"

अर्थात् - सप्राट रविवार के दिन, चंद्र और सूर्यग्रहण के दिन और अन्य भी कई अन्यान्य दिनों में मांसाहार नहीं करता था । रविवार और अन्यान्य कई दिनों में उसने सर्वसाधारण में पशुहत्या निषेध की मुनादी करवा दी थी ।

इसी तरह अकबर का सर्वस्व गिना जानेवाला, अकबर के साथ रातदिन रहनेवाला शेख अबुलफ़ज्जल अपनी पुस्तक 'आईन-इ-अकबरी' में लिखता है :-

"Now, it is his intention to quit it by degrees, conforming, however, a little to the spirit of the age. His Majesty abstained from meat for some time on fridays, and then on Sundays; now on he first day of every solar month, on Sundays, on solar and lunar eclipses, on days between two fasts, on the Mondays of the months of Rajab, on the feastday of the every solar month, during the whole month of Farwardin and during the month, in which His Majesty was born, viz, the month of Aban.

(The Ain-i-Akbari translated by H. Blochmann  
M.A. Vol. I. p.p.61-62)

अर्थात् - वह (अकबर) आयु की लागणियों का कुछ अंशों में पालन करता हुआ भी शनैः शनैः मांसाहार छोड़ने का इरादा रखता है । वह बहुत दिन तक प्रत्येक शुक्रवार और पश्चात् रविवार के दिन मांसाहार का परहेज करता रहा था । अब प्रत्येक सौर महीने की प्रतिपदा को, रविवारको, सूर्य और चंद्र ग्रहण के दिनों में दो उपवासों के बीच के दिनों में, रजब महीने के सोमवारों में, सौर मासके प्रत्येक त्योहार में, फरवदीन के महीने में और बादशाह जन्मा था उस सारे महीने में - यानी सारे अबान महीने में मांसाहार नहीं करता है ।

जैन लेखकों के कथन की सत्यता अबुलफ़ज्जल के उपर्युक्त कथन से दृढ़ होती है । कारण - जैन लेखकोंने जो दिन गिनाये हैं, लगभग वे ही दिन अबुलफ़ज्जलने भी गिनाये हैं । अलावा इसके जैन लेखकोंने बादशाह के छः महीने तक मांसाहार त्याग की और छः महीने और छः दिन तक समस्त देशमें जीवहिंसा निषेध की जो बात लिखी है वह बात बादशाह की सभा के सदस्य, कट्टर मुसलमान बदाउनी के निप्पलिखित कथन से भी पृष्ठ होती है ।

"At this time His Majesty promulgated some of his newly-vaugled decrees. The Killing of animals on the first day of the week was strictly prohibited, (P. 322) because this day is sacred to the Sun, also during the first eighteen days, of the month of Farwardin; the whole of the month of Aban (the month in which His Majesty was born); and on several other days, to please the Hindus. This order was extended over the whole realm and punishment was inflicted on every one, who acted against the Command. Many a family was ruined, and his property was confiscated. During the time of those fasts the Emperor abstained altogether from meat as a religious - penance, gradually extending the several fasts

during a year over six months and even more, with a view to eventually discontinuing the use of meat altogether."

(Al-Badaoni, Translated by W.H. Lowe,  
M. A. Vol. II. p. 331.)

**अर्थात्** - इस समय बादशाहने अपने कुछ नवीन प्रिय सिद्धान्तों का प्रचार किया था। सप्ताह के पहिले दिनमें प्राणीवध निषेध की कठोर आज्ञा थी, कारण यह सूर्यपूजा का दिन है। फरबरदीन महीने के पहिले अठारह दिनों में, आबान के पूरे महीने में (जिसमें बादशाह का जन्म हुआ था) और हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए और भी कई दिनों में प्राणी-वध का निषेध किया था। यह हुक्म सारे राज्य में जारी किया गया था। इस हुक्म के विरुद्ध चलनेवाले को सजादी जाती थी। इससे अनेक कुटुंब बर्बाद हो गये थे और उनकी मलिकतें जब्त कर ली गई थी। इन उपवासों के दिनों में, बादशाहने धार्मिक तपश्चरण की भाँति मांसाहार का सर्वथा त्याग किया था। शनैः शनैः वर्ष में छः महीने और उससे भी ज्यादा दिन तक उपवास करने का अभ्यास वह इसलिए करता गया कि, अन्त में मांसाहार का वह सर्वथा त्याग कर सके।

बदाउनीने ऊपर 'हिन्दु' शब्द का उपयोग किया है। उससे जैन ही समझना चाहिए। कारण-पशुवध का निषेध करने में और जीवदया संबंधी राजामहाराजाओं को उपदेश देने में यदि कोई प्रयत्नशील रहा हो तो वे जैन ही हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ भी अपने अकबर नामक पुस्तक के ३३५ वें पेज में स्पष्टतया लिखता है कि,-

"He cared little for flesh food, and gave up the use of it almost entirely in the later years of his life, when he came under Jain influence."

**अर्थात्** - मांसाहार पर बादशाह की बिलकुल रुचि नहीं थी।

और अपनी पिछली जिन्दगी में तो जबसे वह जैनों के समागम में आया तभीसे, उसने इसका सर्वथाही त्याग कर दिया।

इससे सिद्ध होता है कि, बादशाह से मांसाहार छुड़ाने में और जीववध बंद कराने में श्रीहीरविजयसूरि आदि जैन उपदेशकों का उपदेशही कारण हुआ था। डॉ० स्मिथ यह भी लिखते हैं कि,-

"But the Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which largely influenced his actions; and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism."

(Jain Teachers of Akber by Vincent A. Smith.)

**अर्थात्** - मगर जैन साधुओंने वर्षों तक अकबर को उपदेश दिया था। बादशाह के कार्यों पर उस उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने सिद्धान्त उससे यहाँ तक मनवा दिये थे कि, लोग उसे जैनी समझने लग गये थे।

लोगों की यह समझ केवल समझ ही नहीं थी, बल्कि उसमें वास्तविकता भी थी। कई विदेशी मुसाफिरों को भी अकबर के व्यवहारों से यह निश्चय हो गया था कि, अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी था।

इस संबंध में डॉ० स्मिथ ने अपने 'अकबर' नामक ग्रंथ में एक मार्क की बात प्रकट की है। उसने उक्त पुस्तक के २६२ वें पृष्ठ में पिनहरो (Pinheiro) नामके एक पोर्टुगीज पादरी के पत्र के उस अंश को उद्धृत किया है जो ऊपर्युक्त कथन को प्रमाणित करता है। यह पत्र उसने लाहौर से ता. ३ सितंबर सं. १५९५ के दिन लिखा था। उस में उसने लिखा था,-

He follows the sect of the Jains (vertei).

अर्थात् - अकबर जैनसिद्धान्तों का अनुयायी है। उसने कई जनसिद्धान्त भी उस पत्र में लिखे हैं। इस पत्र के लिखने का वही समय है जिस समय विजयसेनसूरि लाहोर में अकबर के पास थे।

इस प्रकार विदेशियों को भी जब अकबर के वर्ताव से यह कहना पड़ा था कि, अकबर जैनसिद्धान्तों का अनुयायी है, तब यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि, अकबर की वृत्ति बहुत ही दयालु थे। और उस वृत्ति को उत्पन्न करनेवाले जैनचार्य - जैनउपदेशक ही थे। इस के लिए अब विशेष प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि, बादशाह ने अपने राज्य में एक बरस में छः महीने से भी ज्यादा दिनके लिए जीवध का निषेध कराया था, और उन दिनों में वह मांसाहार भी नहीं करता था। यह कार्य उसकी दयालुताका पूर्ण परिचायक है। पाँच पाँचसौ चिड़ियों की जीभें जो नित्य प्रति खाता था, मृगादि पशुओं की जो नित्य शिकार करता था वही मुसलमान बादशाह हीरविजयसूरि आदि उपदेशकों के उपदेश से इतना दयालु बन गया, यह बात क्या उपदेशकोंके लिए कम महत्त्व की है? जैन साधुओं के (जैनश्रमणों) के उपदेश के इस महत्त्व को बदाउनी भी स्वीकार करता है। वह लिखता है :-

"And Samanas and Brahmans (who as far as the matter of private interviews is concerned (p.257) gained the advantage over every one in attaining the honour of interviews with His Majesty, and in associating with him, and were in every way superior in reputation to all learned and trained men for their treatises on morals, and on physical and religious sciences, and in religious ecstacies, and stages of spiritual progress and human perfections.) brought forward proofs, based on reason and traditional testimony, for the truth of their own, and the fallacy of our religion, and inculcated their

doctrine with such firmness and assurance, that they affirmed mere imagination as though they were selfevident facts, the truth of which the doubts of the sceptic could no more shake.

(Al-Badaoni Taranslated by W. H. Lowe.  
M.A. Vol. II. p. 264.)

अर्थात् सम्राट अन्य संप्रदायों की अपेक्षा श्रमणों<sup>१</sup> (जैनसाधुओं) और ब्राह्मणों से एकान्त में विशेषरूप से मिलता था। उनके सहवास में विशेष समय विताता था। वे नैतिक, शारीरिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शास्त्रों में, धर्मोन्नति की प्रगति में और मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त करने में दूसरे समस्त (सम्प्रदायों) विद्वानों और पंडित पुरुषों की अपेक्षा हरतरह से उत्तम थे। वे अपने मतकी सत्यता और हमारे (मुसलमान) धर्म के दोष बताने के लिए बुद्धिपूर्वक, परंपरागत प्रमाण देते थे। वे ऐसी दृढ़ता और युक्ति से अपने मतका समर्थन करते थे कि, उनका कल्पना तुल्य मत स्वतः सिद्ध प्रतीत होता था। उसकी सत्यता के विरुद्ध नास्तिक भी कोई शंका नहीं उठा सकता था।"

इतना सामर्थ्य रखनेवाले जैनसाधु अकबर पर इतना प्रभाव डाले, यह बात क्या होने योग्य नहीं है? अस्तु।

अकबरने अपने वर्ताव में जब इतना परिवर्तन कर दिया था, तब

१. मूल फारसी पुस्तक के 'सेवड़ा' शब्द को अनुवादक ने 'Samanas' (श्रमण) लिखा है, किन्तु यहाँ चाहिये 'सेवड़ा' क्योंकि उस समय में जैनसाधु 'सेवड़ा' केनामसे पहचाने जाते थे। इस समय भी पंजाब आदि कई देशों में जैन साधुओं को 'सेवड़ा' कहते हैं। दूसरी बात यह है कि - इसे अंग्रेजी अनुवादक डबल्यु. एच. लॉ, एम.ए. ने अपने अनुवाद के फुटनोट में 'श्रमण' का अर्थ 'बौद्धश्रमण' किया है। मगर यह भी ठीक नहीं है। बादशाह के दरबार में बौद्धश्रमण तो कोई गया भी नहीं था। इस विषय में इसी प्रकरण में आगे चल कर विशेष प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ सेवड़ा का अर्थ जैन साधु ही समझना चाहिए।

इससे यह परिणाम निकालना क्या बुरा है कि अकबरके दया संबंधी विचार बहुत ही उच्च कोटि पर पहुँच गये थे । इस बात को दृढ़ करनेवाले अनेक प्रमाण भी मिलते हैं । बादशाह ने राजाओं के जो धर्म प्रकाशित किये थे उनमें एक यह धर्म भी था, -

“‘संसार दया से जितना वश में होता है उतना दूसरी किसी भी चीज से नहीं होता । दया और परोपकार, ये सुख दीर्घायु के कारण हैं ।’”

अबुलफज्जल लिखता है, - “‘अकबर कहा करता था कि, यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि, मांसाहारी जीव सिर्फ मेरे शरीर को खाकर ही तृप्त हो जाते और दूसरे जीवों के भक्षण से दूर रहते तो मेरे लिए यह बात बड़े सुख की होती । या मैं अपने शरीर का एक अंश काटकर मांसाहारियों को खिला देता और फिरसे वह अंश प्राप्त हो जाता तो मैं बड़ा प्रसन्न होता । मैं अपने एक शरीर द्वारा मांसाहारियों को तृप्त कर सकता ।’”<sup>१</sup>

दया संबंधी कैसे सुंदर विचार हैं । मांसाहारियों को अपना शरीर खिलाकर तृप्त करने और दूसरे जीवों को बचाने की भावना उच्च कोटि की दयालुवृत्ति रखनेवाले व्यक्ति के सिवा अन्य कौन कर सकता है ?

अबुलफज्जल आईन-इ-अकबरी के पहिले भाग में एक स्थान पर लिखता है :-

“His Majesty cares very little for meat, and often expresses himself to that effect. It is indeed from ignorance and cruelty that, although various Kinds of food are obtainable,

१. आईन-इ-अकबरी, खंड तीसरा, जेरिट्कृत अंग्रेजी अनुवाद पै० ३८३-३८४.

२. आईन-इ-अकबरी, खंड ३ रा, पृ. ३९५.

men are bent upon injuring living creatures, and lending a ready hand in killing and eating them; none seems to have an eye for the beauty inherent in the prevention of cruelty, but makes himself a tomb for animals. If His Majesty had not the burden of the world on his shoulders, he would at once totally abstain from meat.

(Ain-i-Akbari by H. Blockmann Vol. I. p.61).

भावार्थ :- सम्राट मांस की बहुत ही कम परवाह करते हैं । और प्रायः इसके संबन्ध में अपनी सम्मति भी प्रकट किया करते हैं कि, - यद्यपि अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ मिलते हैं, तथापि मनुष्य जीवित प्राणियों को दुःख देते, मारने और भक्षण करने की ओर प्रवृत्त रहते हैं । इसका कारण उनकी अज्ञानता तथा निर्दयता है । कोई भी आदमी निर्दयता को रोकने में जो आन्तरिक सौन्दर्य है उसको नहीं देखता । प्रायः लोग अपने शरीर को पशुओं की कब्र बनाया करते हैं । अगर बादशाह के कंधों पर संसार का (राजकारोबार का) बोझा न होता तो, वह मांसाहार से सर्वथा दूर ही रहता ।”

इसी तरह डा० बिन्सेंट स्मिथ ने भी अकबर के विचारों का उल्लेख किया है । वह लिखता है :-

“Men are so accustomed to eating meat that, were it not for the pain, they would undoubtedly fall on to themselves.”

“From my earliest years, whenever I ordered animal food to be cooked for me, I found it rather tasteless and cared little for it. I took this feeling to indicate the necessity for protecting animals, and I refrained from animal food.”

“Men should annually refrain from eating meat on the anniversary of the month of my accession as a thanks-giving to the Almighty, in order that the year may pass in prosperity.”

“Butchers, fishermen and the like who have no other

occupation but taking life should have a separate quarter and their association with others should be prohibited by fine."

(Akbar The Great Mogal, pp.335-336)

अर्थात् - "मनुष्यों को मांसाहार की ऐसी खराब आदत पड़ जाती है कि, यदि उन्हें दुःख न हो तो वे अपने शरीर को भी खा जायँ ।"

"मुझे अपनी छोटी उम्रही से मांसाहार नीरस लगता है । जब कभी मैं आज्ञा देकर मांस बनवाता था तब भी उसको खाने की बहुत ही कम परवाह करता था । इसी स्वभाव से मेरी दृष्टि पशुरक्षा की ओर गई और मैंने पीछे से मांसाहार का सर्वथा त्याग कर दिया ।"

"मेरे राज्याभिषेक की तारीख के दिन, प्रतिवर्ष, ईश्वर का उपकार मानने के लिए किसी भी मनुष्य को मांस नहीं खाना चाहिए, जिससे सारा वर्ष आनंद के साथ निकले । चार्वाक, नाजरीन, यहूदी, साबी और पारसी आदि प्रत्येक वहाँ के धर्मानुशीलन का अपूर्व आनंद लेते थे ।"

इस स्थान में 'यति' और 'सेवड़ा' शब्द हैं वे जैन साधुओं के लिए आये हैं । बौद्धसाधुओं के लिए नहीं । तो भी जैसा कि डॉक्टर स्मिथ कहते हैं कि, - मिंचैलमर्सने अकबरनामा के अंग्रेजी अनुवाद में भूल से उनका अर्थ 'जैन और बौद्ध' किया था । उनके बाद मुसलमानी इतिहास के संग्रहकर्ता इलियट और डाउसन ने भी वही भूल की । इन तीनों की भूलने वानों अर को भी भूल करने के लिए वाध्य किया । इस तरह हरेक लेखक, एक के बाद दूसरा, भूल करता गया और उस का परिणाम यहाँ तक पहुँचा कि, जैनेतर लेखकों ने 'जैन' शब्दों को सर्वथा उड़ा ही दिया । अब जहाँ देखो वहाँ 'बौद्ध'

१. देखो- 'अकबरनामा' वेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद खंड ३, अध्याय ४५, ५६, ३६५.

शब्द ही दिखाई देता है । आधुनिक हिन्दी, बंगाली या गुजराती लेखकों ने भी ऐसी ही भूल की है । मगर किसीने यह जानने की कोशिश नहीं की कि, वास्तव में अकबर के दरबार में कोई बौद्धसाधु था या नहीं ? या अकबर ने कभी बौद्धसाधुओं का उपदेश सुना भी था या नहीं ?

वस्तुतः खोजने से यह पता चल चुका है और निर्विवाद यह बात मान ली गई है कि, अकबर को कभी किसी बौद्ध विद्वान् के साथ समागम करने का अवसर नहीं मिला था । इसके लिए अनेक प्रमाण देकर पुस्तक के कलेवर को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती । सिर्फ अबुलफ़ज्जल के कथन को उद्धृत कर देना ही काफी होगा । वह आईन-इ-अकबरी में लिखता है कि, -

"चिरकाल से बौद्ध साधुओं का कहीं पता नहीं है । बेशक पेगू, तनासिरम और तिब्बत में ये लोग कुछ हैं । बादशाह के साथ तीसरी बार रमणीय काश्मीर की मुसाफरी में जाते वक्त इस मत के (बौद्धमत के) दो चार वृद्ध मनुष्यों से मुलाकात हुई थी । मगर किसी विद्वान् से भेट नहीं हुई ।"

इससे साफ जाहिर है कि, अकबर न कभी किसी बौद्ध विद्वान् से मिला था और न कभी कोई बौद्ध विद्वान् फतेपुरसीकरी की धर्मसभा में संमिलित हुआ था ।

उपर्युक्त और अन्यान्य अनेक प्रमाणों से डॉ ० विन्सेंट स्मिथ भी यही लिखता है कि, -

'To sum up. Akbar never came under Buddhist influence in any degree whatsoever. No Buddhists took part in the

१. देखो- आईन-इ-अकबरी ३ रा खंड, जेरिटकृत अंग्रेजी अनुवाद का २१२ वा पृष्ठ ।

debates on religion held at Fatehpur Sikri and Abu-l Fazl never met any learned Buddhist. Consequently his knowledge of Buddhism was extremely slight. Certain persons who took part in the debates and have been supposed erroneously to have been Buddhists were really Jains from Gujarat."

(Jain Teachers of Akbar by V. A. Smith.)

**भावार्थ** - अकबर की बौद्धों के साथ न कभी भेट हुई थी और न उस पर उन का प्रभाव ही पड़ा था। न बौद्धों ने कभी फतेहपुर सीकरी की धर्मसभा में भाग लिया था और न कभी अबुल्फ़ जल के साथ ही किसी बौद्ध विद्वान् साधु की मुलाकात हुई थी। इससे बौद्ध धर्म के विषय में उसका (अकबरका) ज्ञान बहुत ही कम था। धार्मिक परामर्श सभा में भाग लेनेवाले जिन दो चार लोगों के लिए बौद्ध होने का अनुमान किया जाता है वह भ्रम है। वास्तव में वे गुजरात से आये हुए जैन साधु थे।"

इससे यह बात अच्छी तरह साबित हो गई है कि, अबतक जिनलेखकों ने अकबर पर प्रभाव डालनेवालों ने बौद्धों की गिनती की है यह उनकी भूल है। उस भूलको सुधार कर सब स्थानों में 'बौद्ध' के स्थान में 'जैन' समझना चाहिए।

इस तरह वि० सं० १६३९ से वि० सं० १६५१ तक अकबर के साथ जैन साधुओं का संबंध लगातार रहा था, उसके बाद अकबर जीवित रहा तब तक उस को और उसके बाद उसके लड़के जहाँगीर को भी जैनसाधु मिलते और धर्मोपदेश देते रहे थे।"

## प्रकरण सातवाँ । सूबेदारों पर प्रभाव ।

विजयसूरि के प्रभाव में गत प्रकरणों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि, उन्होंने केवल अकबर के ऊपर ही प्रभाव नहीं डाला था बल्कि अन्यान्य सूबेदारों और राजा महाराजाओं पर भी उन्होंने प्रभाव डाला था। जो कोई राजा या सूबेदार उनसे एक बार मिलता था वह सूरिजी के पवित्र चारित्र और निर्मल उपदेश से मुग्ध एवं चमत्कृत हुए बिना न रहता था। यद्यपि सामान्यतया विचार करने वालों को, अकबर के समान महान् समाट् पर प्रभाव डालना, कोई महत्वकी बात नहीं मालूम होगी; तथापि दीर्घदृष्टि से विचार करनेवाला यह जरूर समझेगा कि, ज्ञानपिपासु अकबर पर प्रभाव डालने की अपेक्षा सामान्य सूबेदारों या राजामहाराजाओं पर प्रभाव डालना बहुत ही कठिन था। अधिकार के मदमें मस्त, उस समय की अराजकताका लाभ उठाकर अपने आपको अहमिंद्र समझनेवाले सूबेदार या राजा क्या किसीकी सुननेवाले थे? वे स्वच्छंदी-जिनकी स्वच्छंदता का हम दूसरे प्रकरण में उल्लेख कर चुके हैं; जो सत्यासत्य की या मनुष्य के दर्जे की कुछ भी परवाह किये बिना मारो, पकड़ो की आज्ञा दे देते थे - क्या किसी के उपदेश पर ध्यान दे सकते थे? कदापि नहीं। तो भी अपने चारित्र के प्रथम नायक श्रीमान् हीरविजयसूरि ने समय समय पर उनपर अपने निष्कलंक चारित्र और उपदेश का प्रभाव डाल कर उनसे कई महत्व के कार्य कराये हैं। यद्यपि उनको किसी राजामहाराज, सेठ साहूकार या फौजदार सूबेदार से कोई मतलब न था - 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्' के समान उनको किसी की परवाह न थी, तथापि जीवों के कल्याण

की कामना उनके अन्तःकरण में स्थापित थी । उसी कामनाके वश होकर वे जीवों का कल्याण कराने के लिए सूबेदारों या राजामहाराजाओं के निमंत्रणों को स्वीकार करते थे और अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर भी उनके दर्बार में आते जाते थे ।

अनेक राजामहाराजाओं और सूबेदारों पर सूरिजीने प्रभाव डाला था; उनको सन्मार्ग पर चलाया था; मगर हम उन सबका उल्लेख न कर उनमें से कुछ का संक्षिप्त वृत्तान्त यहाँ लिखेंगे ।

### कलाखाँ

विंसं० '१६३०' ई०सं० १५७४ के लगभग जब सूरिजी पाटन में पधारे थे, तब वहाँ के हेमराज नामके जैनमंत्री ने, विजयसूरि के पाटमहोत्सव के अवसर पर, बहुत सा धन खर्च करके अनेक शुभ कार्य किये थे । उस समय कलाखाँ पाटन का सूबेदार था । उनके जुल्म से प्रेजा बहुत व्याकुल हो रही थी । प्रेजा उससे इतनी नाराज थी कि, एक भी मनुष्य की जुबान पर उसकी भलाई का शब्द न आता था । उस नगर में पहुँच कर सूरिजी ने अनेक व्याख्यान दिये । उनसे शनैः शनैः समस्त नगर में उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा फैल गई । कलाखाँ के कानों तक भी सूरिजी की प्रशंसा पहुँची । इससे उसके

---

१. कलाखाँ का खास नाम खानेकलानमीरमहम्मद था । वह अतधखाँ का बड़ा भाई था । हुमायूँ और कामरान का यह सेवक धीरे धीरे अकबर के समय में बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँचा था । बहादुरी के अनेक काम करके अच्छा नाम कमाया था । बादशाहने सं० १५७२ ई० में गुजरात को फिरसे जीतने के लिए कलाखाँ को पहिले भेजा था । मार्ग में सीरोही के पास एक राजपूत ने किसी स्पष्ट कारण के बिना ही उसे घायल कर दिया था । मगर कई दिनके बाद उसने अच्छा होकर गुजरात को जीता । इससे वह पाटन का सूबेदार नियत हुआ । ई० सं० १५७४ में पाटनही में उनकी मृत्यु हुई थी । विशेष जानने के लिए ब्लॉकमैन कृत आइन-इ-अकबरी के अंग्रेजी अनुवाद के प्र. भा. का ३१२ वा पृष्ठ देखो ।

### सूबेदारों पर प्रभाव

हृदय में सूरिजी से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई । उसने उन्हें मनुष्य भेजकर अपने पास बुलाया । यद्यपि इससे सूरिजी के अनुयायिकोंको श्रावकों को बहुत ही ज्यादा भय मालूम हुआ था, तथापि सूरिजी के निर्भीक हृदय में कोई आशंका उत्पन्न नहीं हुई थी । वे समझते थे कि, - **सत्ये नास्ति भयं क्वचित् ।**

बहुत देर तक अनेक तरह की बातें होती रहीं । फिर कलाखाँ ने पूछा:- “महाराज ! सूर्य ऊँचा है या चंद्रमा ?

सूरिजीने उत्तर दिया:- “चंद्रमा ऊँचा है । सूर्य उससे कुछ नीचा है ।”

यह उत्तर सुनकर कलाखाँ को कुछ आश्र्य हुआ । उसने कहा:- “क्या ? सूर्य से चंद्रमां ऊँचा है ?”

सूरिजी ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया:- “हाँ सूर्य से चंद्र ऊँचा है ।”

कलाखाँ बोला:- “हमारे यहाँ तो सूर्य से चंद्रमा नीचे बताया गया है, तुम चंद्रमा को ऊँचा कैसे बताते हो ?”

सूरिजी ने कहा:- “न तो मैं सर्वज्ञ हूँ और न मैं वहाँ जा कर देख ही आया हूँ । मैंने जो बात अपने गुरु की जबान से सुनी है और धर्मशास्त्रों में पढ़ी है, वही मैं कह रहा हूँ । तुम्हारे शास्त्रों में यदि तुम कहते हो वैसे लिखा हो तो तुम भले वैसे ही मानो ।”

आचार्यश्री की बात सुनकर कलाखाँ कुछ विचार में पड़ा । उसने सोचा कि, जो वस्तु अगम्य है, परोक्ष है उसके लिए शास्त्रीय मोहसे हठ करके अपनी बातको सत्य मनाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है । उसने कहा:-

“महाराज ! आपका कहना ठीक है । जिस बातको हमने देखा

ही नहीं है, उसके लिए हठ करना, - हम मानते हैं वही ठीक हैं ऐसा आग्रह करना-फिजूल है। मैं आपकी सरलता से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मेरे लायक कुछ कार्य हो तो आज्ञा कीजिए।”

सूरिजी ने अनुकंपाद्विष्ट से उन कैदियों को छोड़ देने की सूचना दी कि जिनको प्राणदंड की आज्ञा दी गई थी। तदनुसार उसने कैदियों को छोड़ दिया और शहर में इस बातका ढिंढोरा पिटवाने का हुक्म दिया कि, समस्त नगर में एक मास तक कोई भी मनुष्य किसी भी जीवको न मारे।

उसके बाद उसने सत्कार पूर्वक सूरिजी को उपाश्रय पहुँचा दिया। यह उस समय की बात है कि, जिस समय सूरिजी और अकबर बादशाह का कोई संबंध नहीं था।

### खानखाना

अकबर के पास से सूरिजी रवाना हो कर गुजरात की ओर जा रहे थे, तब वे मेड़ते भी गये थे। उस समय खानखाना जो सूरिजी की पवित्रता और विद्वत्ता से परिचित था - मेड़ते ही में था। उसने सूरिजी को, उन्हें नगर में आये के बाद जान अपने पास बुलाया। और अच्छा सम्मान किया। उसने ईश्वर का स्वरूप जानने के अभिप्राय से प्रश्न किया,-

“महाराज ! ईश्वर रूपी है या अरूपी ?”

“ईश्वर अरूपी है।”

“ईश्वर यदि अरूपी है तो उसकी मूर्ति क्यों बनाई जाती है ?”

“मूर्ति ईश्वर का स्मरण कराने में कारण होती है। अर्थात् मूर्ति को देखने से जिसकी वह मूर्ति होती है वह व्यक्ति याद

१. इसी पुस्तक के १२० वें पेज का नोट देखो।

आती है। जैसे कि किसी की तसवीर देखने से वह व्यक्ति याद आता है। अथवा, जैसे नाम नामवाले की याद दिलाता है, वैसे ही मूर्ति मूर्ति वालेका - जिसकी वह मूर्ति होती है उसका-स्मरण करा देती है। जो मनुष्य कहते हैं कि, हम मूर्ति को नहीं मानते हैं, वे सचमुच ही बहुत बड़ी भूल करते हैं। संसार में ध्याता, ध्यान और ध्येय इस त्रिपुटी को माने बिना किसी भी आदमी का कार्य नहीं चलता। कारण ध्यान तब तक नहीं होता है जबतक मन किसी एक पदार्थ पर नहीं लगाया जाता है। दुनिया में अमूर्तक पदार्थों का ज्ञान हमें मूर्तिही से होता है। आप मुझको साधु मानते हैं। कैसे ? सिर्फ मेरे वेषसे। अर्थात् मैं साधु हूँ इस बातका ज्ञान कराने में यदि कोई बात कारणभूत है तो वह मेरा वेष ही है। “यह हिन्दु है।” “यह मुसलमान है।” ऐसा ज्ञान हमें कैसे होता है ? सिर्फ वेष से। इस वेषही का नाम मूर्ति है। आप और हम सभी अपने शास्त्रों को देखकर ही कहते हैं कि, यह खुदा का कलाम है, यह भगवान की वाणी है। खुदा के वचन तो जब वे जबान से निकले थे तभी आकाश में उड़ गये थे, फिर भी हम कहते हैं कि ये खुदा का कलाम है, यह भगवान की वाणी है। खुदा के वचन तो जब वे जबान से निकले थे तभी आकाश में उड़ गये थे, फिर भी हम कहते हैं कि ये खुदा के शब्द हैं। सो कैसे ? सिर्फ यही जवाब देना पड़ेगा कि यह खुदा के शब्दों की मूर्ति है। अभिप्राय यह है कि, मूर्ति के बिना किसी का भी काम नहीं चलता। जो मूर्ति को नहीं मानने का दावा करते हैं वे भी प्रकारान्तर से मूर्ति को मानते तो हैं हीं।”

इस के सिवाय भी सूरिजीने कई ऐसे उदाहरण दिये जिनसे यह प्रमाणित होता था कि, प्रत्येक मनुष्य मूर्तिको मानता ही है। उसके बाद खानखाना ने पूछा:-

“यह ठीक है कि, मूर्ति को मानने की आवश्यकता है, लोग मानते भी हैं; मगर यह बताइए कि, मूर्ति की पूजा किस लिए करनी चाहिए और वह मूर्ति हमें क्या फायदा पहुँचा सकती है ?

सूरिजी ने उत्तर दिया - “महानुभाव ! जो मनुष्य मूर्ति की पूजा करते हैं, वे वस्तुतः उस मूर्ति को नहीं पूजते हैं; वे तो उस मूर्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं। पूजा करते समय पूजक का यह भाव नहीं होता है कि मैं इस पत्थर को पूज रहा हूँ। मुसलमान लोग मसजिद में, या जहाँ कहीं वे नमाज पढ़ते हैं वहाँ, पश्चिम दिशा की ओर मुख रखते हैं। उस समय वे यह नहीं समझते हैं कि, हम दीवार के सामने-जो उनके सामने होती है - नमाज पढ़ते हैं, मगर वे यह समझते हैं कि पश्चिम दिशा में मका है, उसी के सामने हम नमाज पढ़ रहे हैं। जिस लकड़ को घड़कर चौकी बना ली जाती है, वह लकड़ चौकीही के नामसे पुकारा जाता है। उसे कोई लकड़ नहीं कहता। संसार में स्त्रियाँ सब एकसी हैं; परंतु पुरुष अपनी सहधर्मिणी उसी को मानता है जिसके साथ उसका पाणिग्रहण हुआ है। अर्थात् उस स्त्रीमें अपनी पत्नी मानने की भावना स्थापित करता है। इसी भाँति पत्थर वास्तव में तो पत्थर ही है; मगर जो पत्थर घड़कर मूर्ति बनाया जाता है और मंत्रादि विधि से जो स्थापित होता है, उस में परमात्माही का आरोप किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि, मूर्ति की पूजा करनेवाले पत्थर की पूजा नहीं करते हैं, बल्कि मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करते हैं।

“मूर्ति की पूजा से लाभ यह है कि, उसकी पूजा से उसके दर्शन से मनुष्य अपने हृदय को पवित्र बना सकता है। मूर्ति के दर्शन से उस व्यक्ति के - परमात्मा के - जिस की वह मूर्ति होती है - गुण-याद आते हैं। उन गुणों का स्मरण करना या उस के अनुसार आचारण करने का प्रयत्न करना सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्यों का हृदय

वैसा ही बनता है, जैसे उन्हें संयोग मिलते हैं। वेश्या के पास जाने से पाप लगता है। इसका कारण क्या है ? क्या वेश्या उसको पाप दे देती है ? वेश्या को तो पाप का ज्ञान भी नहीं होता है। कारण यह है कि, वेश्या पाप नहीं देती मगर उस के पास जाने से पुरुष का हृदय मलिन अपवित्र हो जाता है। अन्तःकरण का मलिन होना ही पाप है। इसी भाँति यद्यपि परमात्मा की मूर्ति हम को कुछ देती लेती नहीं है; तथापि उसके दर्शन-पूजन से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल-शुद्ध होता है। अन्तःकरण का शुद्ध होना ही धर्म है।”

यह और इसी तरह की दूसरी अनेक युक्तियों से सूरिजी ने मूर्तिपूजा का प्रतिपादन किया।

खानखाना बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मुक्कंठ से सूरिजी की प्रशंसा करते हुए कहा: - “सचमुच आप ऐसी ही इज्जत के काबिल हैं जैसि कि आपको अकबर बादशाहने बख्शी है। मैं आपके गुणों की दाद दिये बिना नहीं रह सकता।”

तत्पश्चात् उसने कई मूल्यवान पदार्थ सूरिजी के समक्ष रख कर उन्हें ग्रहण करने का आग्रह किया। सूरिजीने उन्हें साधुधर्म के लिए अग्राह्य बताकर साधुओं के पालने योग्य १८ बातों का विवेचन किया। इस प्रकार खानखाना पर भी सूरिजीने अपना प्रभाव डाला था।

१. जैन साधुओं को निम्नलिखित १८ बातें पालनी चाहिए। (1) हिंसा (2) झूठ (3) चोरी (4) अब्रह्म (5) परिग्रह; इन पांचों से दूर रहना। (6) रात्रिभोजन न करना (7) पृथ्वी (8) जल (9) अग्नि (10) वायु (11) वनस्पति (12) त्रस; इन छः प्रकार के जीवों को कष्ट न पहुँचाना, (13) राजपिंड ग्रहण न करना - अर्थात् राजा के वहाँ से भोजन ग्रहण न करना। (14) सोना चाँदी, काँसा, पीतल आदि धातुओं के निर्मित बर्तनों में भोजन न करना। (15) पलंग व सुखदायी बिस्तरोंपर शयन नहीं करना। (16) गृहस्थ के घर में नहीं बैठना (17) स्नान नहीं करना और (18) शृंगार नहीं करना।

### महाराव सुरतान ।<sup>१</sup>

सूरिजी विहार करते हुए जब सीरोही गये थे तब वहाँ के प्रतापी राजा महाराव सुरतान पर भी उन्होंने अच्छा प्रभाव डाला था। रावसुरतान का समागम करके सूरिजी ने उसको अच्छा प्रबोध दिया था। कई 'कर' - जो प्रजा पर केवल जुल्म थे : भी उन्होंने बंद करवा दिये थे। सुरतान ने सूरिजी के उपदेश से अन्याय नहीं करने का भी निश्चय कर लिया था। इन के अलावा सूरिजी के तपोबल से एक महत्व की बात और भी हुई थी। वह यह थी -

उसने बिना ही कारण निर्दोष सौ श्रावकों को अपराधी ठहरा कर कैद कर दिये थे। इस से समस्त संघ में हाहाकार मच गया था। संघ के मुखियों ने अनेक प्रयत्न किये मगर सुरतानने श्रावकों को नहीं छोड़ा।

एक बार सूरिजी के साथ के साधु बाहिर दिशांगल गये और

१. यह वि० सं० १६२८ में सीरोही की गद्दी पर बैठा था। उस समय उसकी आयु सिर्फ १२ वर्ष की थी। इस को अनेक बार राजपूतों और बादशाह की फौजों के साथ युद्ध करना पड़ा था। उन में कई बार उसे हारना भी पड़ा था। राज्य गद्दी भी छोड़नी पड़ी थी। परन्तु अन्त में उसने अपनी वीरता से राज्य वापसि ले लिया था। वह प्रकृतवीर था। स्वाधीनता, महाराणा प्रतापसिंह की भाँति उसे भी बहुत प्यारी थी। इसलिए अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश उसे युद्धों में ही बिताना पड़ा था। कहा जाता है कि, उसने सब मिलाकर ५१ युद्ध किये थे। जब वह आबू पहाड़ का आश्रय ले कर युद्ध करता था तब बड़ी से बड़ी सेना को भी वह तुच्छ समझता था। जैसा वह उदार था वैसा ही बहादुर भी था। उसने अनेक गाँव दान में दिये थे। उसके मिलनसार स्वभाव के कारण अनेक राजाओं से उसकी मित्रता थी।

इसके संबंध में जो विशेष जानना चाहते हैं वे पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाकृत 'सीरोही राज्य का इतिहास' के २१७ से २४४ तक के पृष्ठ देखें।

### सूबेदारों पर प्रभाव

वापिस आकर 'इर्यावहिया'<sup>२</sup> किये बिना ही अपने अपने कामों में लग गये। सूरिजी ने उनकी उस भूलको देखा और संध्या को सबसे कहा कि,- "कल तुम सबको 'आंबिल'<sup>३</sup> करना होगा; क्योंकि आज तुमने, दिशा जाकर 'इर्यावहिया' नहीं की है।" सारे साधुओंने इस प्रायश्चित्त को स्वीकारा। दूसरे दिन समस्त साधुओंने 'आंबिल' की तपस्या की। सूरिजी के साथ जब साधु आहार करने के लिए बैठे तब उन्हें मालूम हुआ कि, आज सूरिजीने भी 'आंबिल' की ही तपस्या की है। उन्होंने पूछा:- "आज आपको आंबिल किस बात का है ?" सूरिजी ने उत्तर दिया:- "आज मेरा मातरा पडिलेहण किये बिना परठा<sup>४</sup> था। उस दिन सब मिला कर अस्सी आंबिल हुए। इस प्रकार आंबिल करने और कराने का सूरिजी का आन्तरिक हेतु जुदा था। सूरिजी की इच्छा थी,- जो श्रावक आफत में पड़े हैं उनको किसी भी तरह से छुड़ाना। सूरिजी को आंबिल की तपस्या पर बहुत श्रद्धा थी। जब जब वे कोई महत्व का कार्य करना चाहते थे तब तब वे प्रारंभ में आंबिल ही किया करते थे। एक तरफ सूरिजी ने इस तरह आंबिल की तपस्या की और दूसरी तरफ सीरोही के महाराव सुरतान से मिल कर उसे, निर्दोष कैदी श्रावकों को छोड़ देने का उपदेश दिया। सूरिजी

१. जैन साधु जब पेशाब या पाखाने जाकर आते हैं, उस समय, जाते आते मार्ग में जितना चाहिये उतना उपयोग नहीं रहने के कारण, - उपयोग स्खलना के लिए - गुरु के पास प्रायश्चित्त रूप जो किया करते हैं उसको इरियावहिया कहते हैं।

२. आंबिल के लिए पेज १०७ का फुटनोट देखो।

३. साधु लोग पेशाब को मातरा, कहते हैं।

४. जैनसाधु गटर - मोरी आदि स्थानों में पेशाब नहीं करते। वे खुली जगह में - जहाँ जीव-जन्तु नहीं होते हैं - पेशाब करते हैं। या किंसी कुंडी में करके निर्दोष जमीन में छिड़क देते हैं जिससे वह जल्दी सूख जाता है। दुर्गंध नहीं फैलती है और जीवोत्पत्ति भी नहीं होती है। ऐसा करने को 'मातरा परठना' कहते हैं।

के उपदेश का सुरतान के हृदय में असर हुआ और उसी दिन उसने शाम के बक्त सबको मुक्त कर दिया ।

### सुल्तान हबीबुल्लाह

विहार करते सूरिजी एक बार खंभात गये । वहाँ हबीबुल्लाह नाम का एक खोड़ा रहता था । उसकी एक बक्त की खूराक लगभग एक मन थी । उसका शरीर खूब मोटा ताजा था । उसने धन का बहाना करके सूरिजी का बहुत अपमान किया । सूरिजी का द्वेषी महिआ नामका एक व्यक्ति भी उससे मिल गया । इससे वह सूरिजी को ज्यादा सताने लगा । परिणाम यह हुआ कि, उसने सूरिजी को शहर के बाहर निकलवा दिया । इससे समस्त जैन समाज में खलबली मच गई । सूरिजी के इस अपमान को सब गच्छ के साधुओं ने अपना अपमान समझा । वे भी गाँव के बाहिर चले गये और सूरिजी के पास जाकर रहे । सूरिजी के अपमान का कृत्य वास्तव में अक्षम्य था । इसका प्रतीकार करना जरूरी था । स्वच्छंदी और निरंकुश मनुष्यों का मद यदि उतार नहीं दिया जाता है तो वे जब तब, भले से भले आदमी का भी अपमान करते नहीं अचकाते हैं । इसलिए भविष्य में ऐसी बात न हो इसका प्रबंध करने के लिए, धनविजय नाम के साधु हीरविजयसूरि के पास से रवाना होकर अकबर के पास चले । शान्तिचंद्रजी उपाध्याय - जिन के विषय में छठे प्रकरण में लिखा जा चुका है - उस समय अकबर के पास ही थे । धनविजयजी जाकर उनसे मिले । शान्तिचंद्रजी ने जाकर सारी बातें बादशाह से कहीं । बादशाह कुछ होकर बोला: - “उसको बाँध कर जूते मारते हुए यहाँ लाने का, मैं इसी बक्त हुक्म देता हूँ ।”

उस समय हबीबुल्लाह का हीरानंद नामका एक अनुचर भी वहाँ विद्यमान था । उसने बादशाह से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि, “खुदावन्द ! माफ करें । मैं पत्र लिखकर सब ठीक ठाक कर देता हूँ ।”

सूबेदारों पर प्रभाव  
मगर बादशाह ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया और हुक्म दिया कि, - “जिसने हीरविजयसूरि का अपमान किया है वह मारा जाय ।”

यह आज्ञापत्र लेकर धनविजयजी गुजरात में सूरिजी के पास पहुँचे । श्रावक बहुत प्रसन्न हुए । यह हाल जब हबीबुल्लाह को मालूम हुआ; श्रावकों के पास जब उसने आज्ञापत्र पढ़ा, तब उसके होश उड़ गये । वह घबराहट के साथ विचारने लगा, - अब क्या होगा ? मेरे प्राण कैसे बचेंगे ? मुझे यह कैसी दुर्बुद्धि सूझी कि जिस पुरुष का सम्राट अकबर भी मान करता है उसका अपमान किया ।” अनेक प्रकार के विचारों के बाद उसने अपने कई आदमी सूरिजी को सादर खंभात में लाने के लिए भेजे । सूरिजी उस समय किसी अन्य गाँव में थे । सूरिजी को तो अपने मानापमान का कुछ ख्याल था ही नहीं । भविष्य में साधुओं का अपमान न हो इसी लिए उन्होंने इतना किया था, इस लिए वे आनंदपूर्वक खंभात की ओर चले । जब वे शहर से थोड़ी दूर रहे तब हबीबुल्लाह अपनी चतुरंगिनी सेना सहित उनका स्वागत करने के लिए गया और उनको देखते ही उनके पैरों में जा गिरा व उनके गुणगान करने लगा ।

सूरिजी जब नगर में गये तब हबीबुल्लाह उनके पास गया और क्षमायाचना करता हुआ बोला : - “महाराज ! आप दयालु हैं । मैंने आपका जो अपमान किया है उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए । मैं खुदाको साक्षी रखकर कसम खाता हूँ कि भावी में फिर कभी किसी महात्मा का अपमान नहीं करूँगा ।”

सूरिजी बोले : - “सुल्तान साहब ! मैंने तो आपको पहिलेही से क्षमा कर दिया है । मेरे हृदय में आपके लिए कोई दुभाँव नहीं है । इसी का यह प्रमाण है कि, आपने मुझे अपने गाँव में बुलाने को मनुष्य भेजे और मैं तत्काल ही आ गया । यदि मेरे दिल में आपके लिए कोई बुरा ख्याल होता तो मैं हरगिज यहाँ न आता ।

हबीबुल्लाह इससे बहुत प्रसन्न हुआ। सूरिजी की मुखमुद्रा और असल फकीरी का निरीक्षण करते ही उस के अन्तःकरण में किसी और ही तरह के भाव उत्पन्न हुए। उसको विश्वास हुआ कि, ऐसे गुणी महात्मा का यदि अकबर बादशाह और अन्यान्य लोग सतकार करते हैं तो इस में आश्र्य की कोई बात नहीं है।

उसके बाद भी हबीबुल्लाह प्रायः सूरिजी का उपदेश सुनने के लिये उपाश्रय में आया करता था। एक बार सूरिजी व्याख्यान बाँच रहे थे तब वह आया। उस समय सूरिजी के मुख पर 'मुँहपत्ती' बंधी हुई थी। उसे देखकर उसने पूछा:- "महाराज ! आपने मुँह पर कपड़ा किस लिए बाँध रखा है ?"

सूरिजीने उत्तर दिया:- "इस समय शास्त्र मेरे हाथ में है। बोलते हुए कहीं इस पर थूक का छींटा न पड़ जाय, इसलिए यह कपड़ा बाँधा गया है।"

हबीबुल्लाह ने फिर पूछा :- थूक क्या नापाक है ?"

१. मुँहपत्ती का संस्कृत नाम 'मुखवस्त्रि का' है। इसको जैन साधु हमें अपने हाथ में रखते हैं। जब वे बोलते हैं तब मुँह के आगे धर लेते हैं। प्राचीन काल में जब कागजों का प्रचार नहीं हुआ था और ग्रंथ लंबे लंबे ताडपत्रों पर लिखे हुए थे तब, उन ग्रंथों के पृष्ठों को दोनों हाथों में पकड़कर व्याख्यान बाँचना पड़ता था। इससे दोनों हाथ बँधजाने के कारण साधुओं को 'मुँहपत्ती' मुखपर बाँधनी पड़ती थी। हेतु यह था कि, थूक उड़कर शास्त्र पर न पड़े। मगर अब लंबे लंबे पृष्ठ हाथ में लेकर शास्त्र नहीं बाँचना पड़ता है। अब तो मजेदार ऐसे कागजों पर शास्त्र छप गये हैं कि जिन्हें दोनों हाथों में लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस लिए वर्तमान काल में 'मुँहपत्ती' मुखपर बाँधकर व्याख्यान बाँचने की कोई आवश्यकता हमें नहीं दिखती। एक हाथमें पृष्ठ और दूसरे हाथ में मुँहपत्ती रखने से काम चल सकता है। तो भी पुराना रिवाज अब भी कहीं कहीं दिखाई देता है। मगर व्याख्यान के समय मुँखपर 'मुखवस्त्रि' बाँधने का जो खास कारण था वह मिट गया है, इस लिए उस पुराने रिवाज को पकड़े रहने की कोई आवश्यकता अब नहीं है।

सूरिजीने उत्तर दिया - "बेशक, जब तक वह मुँह में रहता है पाक होता है। मुँह से निकलते ही नापाक हो जाता है।"

सूरिजी के उत्तर से वह प्रसन्न हुआ। उसने निवेदन किया:- "महाराज ! मेरे लायक कोई कार्य हो तो बताइए।"

सूरिजीने कई कैदियों को छोड़ देने की ओर जीवरक्षा कराने की सूचना की। तदनुसार उसने कई बंदियों को छोड़ दिया और शहरमें अमारी घोषणा करादी-कोई किसी जीवको न मारे ऐसा ढिंढोरा पिटवा दिया।

### आज्ञमखाँ

वि० सं० १६४८ में हीरविजयसूरि अहमदाबाद गये थे। उस समय आज्ञमखाँ वहाँ का सूबेदार था। वह दूसरी बार इस सूबे में आया था। उसकी सूरिजी पर बहुत श्रद्धा थी। एख बार वह सोरठ पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहा था, उस समय धनविजयजी साधुने उससे मिल कर कहा:- "मुझे सूरिजी महाराजने आपके पास भेजा है।" उसने उत्सुकता के साथ पूछा :- 'महाराजने मेरे लायक कोई कार्य बताया है ?' धनविजयजी ने उत्तर दिया :- "हाँ, आप जानते हैं कि, हमारे पवित्र तीर्थ गिरिनार, शत्रुंजय आदि बादशाह की तरफ से हमारे सिपुर्द हुए हैं। उनके परवाने भी हमें दिये गये हैं, मगर अप्सोस है कि, अबतक उनपर पूरा अमल नहीं हुआ। कई विघ्न बीच बीच में आ जाया करते हैं, इस लिए आप पूरा बंदोबस्त कर दीजिए।"

१. यह वही आज्ञमखाँ है जो खानेआज्ञम या मिर्ज़ी अज्जीज कोका के नामसे पहिचाना जाता है। यह ई० स० १५८७ से १५९२ तक अहमदाबाद का सूबेदार था। विशेष जानने के लिए मीराते सिंकंदरी में (गुजराती अनुवाद) पृ० १७२ से १८५ तक देखो।

उसने उत्तर दिया:- “सूरिजी महाराज से मेरा सलाम कहना और कहना कि, इस वक्त मैं युद्ध में जा रहा हूँ। वापिस आने पर आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।”

धनविजयजी सूरिजी के पास लौट आये। आज्ञमखाँ ने सोरठ पर चढ़ाई की। सब से पहिले उसने जामनगर पर हमला किया। एक तरफ थी आज्ञमखाँ की फौज और दूसरी तरफ थे हाला, झाला और काठी। घमसान युद्ध हुआ। आज्ञमखाँ को सूरिजी पर बहुत श्रद्धा थी। उसको विश्वास था कि, लड़ाई के लिए तैयार होते वक्त ही मुझे सूरिजी महाराज के प्रतिनिधि श्रीधनविजयजी के दर्शन हुए थे इसलिए अवश्यमेव मेरी जीत होगी। आज्ञमखाँ इसी विश्वास के साथ युद्ध कर रहा था। उसकी सेना धीरता और वीरता के साथ आगे बढ़ी जा रही थी। अचानक जामनगर के जाम ‘सताजाम’ का घोड़ा चमका। इससे दूसरे सवारों में भी गड़बड़ी मच गई। आज्ञमखाँ का दाव चल गया। उसकी फौजने आगे बढ़कर शत्रु को परास्त किया। यद्यपि जाम के जरा बजीर ने बहुत वीरता दिखाई

१. सताजाम का खास नाम सतरलसाल (शत्रुशत्य) था। वह जाम विभोजी के चार पुत्रों में सबसे बड़ा था। वह जामसत्ता के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। जब वह सिंहासन पर बैठा तब गुजरात में बहुत बड़ी अव्यवस्था थी। १५६१ स० १५६१ में उसके पिता के स्वर्गवासी होने पर वह राज्यगद्दी पर बैठा था। जाम सताजी के समयही से सुल्तान मुजफ्फर की आज्ञा से जामनगर के जाम कोरी (जामनगर राज्य का चलनी सिक्का) पाड़ने लगे थे। इस जामके बजीर का नाम जसा बजीर कहा जाता है। उसका पूरा नाम बजीर जसा लाधक था। उसने और जामके पुत्र कुंवर अजाजी ने बहादुरी के साथ आज्ञमखाँ से लड़ाई की थी। मगर अन्त में दोनों ही युद्ध में काम आये। आज्ञमखाँ और जाम सताजी के इस युद्ध का विशेष वृत्तान्त जिनको जानना हो वे ‘अकबरनामा’ के तीसरे भाग के (बेवरिजकृत अंग्रेजी अनुवाद) पृ० ९०२ में; ‘कठियावाड़ सर्व संग्रह’ (गुजराती अनुवाद) के पृ० ४५४-४५५ में; ‘मीरातेअहेमदी’ (गुजराती अनुवाद) के पृ० १७७ में एवं मीराते सिकंदरी (गुजराती अनुवाद) पै. ४६९ आदि में देखो।

परन्तु अन्त में वह मारा गया और सताजाम को युद्धस्थल छोड़कर भाग जाना पड़ा।

नयानगर (जामनगर) को जीतकर आज्ञमखाँ ने जूनागढ़ पर चढ़ाई की। वहाँ भी विजय प्राप्त कर वापिस अहमदाबाद आया।

अहमदाबाद आते ही उसने सूरिजी को बुलाया। वे सोमविजयजी और धनविजयजी को साथ लेकर आज्ञमखाँ के बँगले गये। राजवाड़ा में प्रवेश करते ही आज्ञमखाँ ने सूरिजी का सत्कार किया। थोड़ा वार्तालाप होने पर आज्ञमखाँ ने कहा:-

“महाराज ! आपके पवित्र नाम से मैं मुहूर्त से परिचित हूँ। आपके शुभ नाम का स्मरण करने ही से मुझे अपने कार्य में पूर्णतया सफलता हुई है। मैं चिरकाल से आपके दर्शनों के लिए उत्सुक था। सच तो यह है कि, जब से बादशाह अकबर आपका मुरीद बना तभी से मैं आपसे भेंट करने की इच्छा कर रहा था। आज मेरी इच्छा पूरी हुई। इससे मैं अपने आपको भाग्यशाली समझता हूँ।”

इस तरह विवेक बताने के बाद उसने कहा :—“महाराज ! आप किस पैगंबर के चलाये हुए धर्म को मानते हैं ?”

सूरि० - महावीर स्वामी के।

आज० - उनको गुजरे कितने बरस हुए हैं ?

सूरि० - करीब दो हजार बरस।

आज० - तब तो आपका धर्म बहुत पुराना नहीं है।

सूरि० - मैं जिन महावीरस्वामी का नाम लेता हूँ वे तो हमारे चौबीस वें तीर्थकर - पैग्म्बर हैं। उनके पहिले भी तेईस पैग्म्बर हो गये हैं। हम महावीरस्वामी के साधु कहलाते हैं। क्योंकि उन्होंने जो मार्ग बताया है उसी पर हम चलते हैं।

**आज०** - आपके पहिले और आखिरी पैगम्बर में क्या कोई फर्क है ?

**सूरि०** - पहिले पैगम्बर का नाम ऋषभदेव है। उनका शरीर पाँचसौ धनुष्य का था। उनके बाद दूसरे, तीसरे पैगम्बर जैसे जैसे होते गये वैसे ही वैसे उनका शरीरप्रमाण भी कम होता गया। उनके वस्त्रों और लक्षणों में भी फरक है। ऋषभदेव भगवानने सफेद वस्त्र बताये हैं। वे भी नापके। महाब्रत पाँच बताये - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पहिले और आखिरी तीर्थकरों के साधुओं के आचार तो करीब करीब एक से ही हैं; परन्तु बीच के बाईस तीर्थकरों के साधुओं के आचार में कुछ फर्क है। बाईस तीर्थकरोंने पाँच वर्ण के वस्त्र बताये हैं। उनका कोई प्रमाण भी नहीं बताया। उन्होंने महाब्रत भी चार ही बताये। अर्थात् उन्होंने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों का एकही में समावेश कर दिया। इस तरह भेद होने का और कोई कारण नहीं है कारण सिर्फ एक है। वह यह कि, - बाईस तीर्थकरों के समय के मनुष्य सरल और बुद्धिमान थे, इसलिए थोड़े में बहुत समझ जाते थे। मगर इस काल के मनुष्य वक्र और जड़ कहलाते हैं। इसलिए जितना आचार बताया गया है उतना भी वे नहीं पाल सकते हैं। यह बात खास तरह से ध्यान में रखना चाहिए कि, आचार में अन्तर होने पर भी उनके प्रकाशित किये हुए सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। पहिले के तीर्थकरोंने जैसे सिद्धान्त प्रकाशित किये हैं वैसे ही सिद्धान्त पीछे के तीर्थकरोंने भी किये हैं। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को हुए असंख्य वर्ष बीत गये हैं। अन्त के महावीरस्वामी को हुए लगभग दो हजार वर्ष बीते हैं। बस उन्हीं के बताये हुए मार्ग में हम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार चल रहे हैं।

आज्ञमङ्खाँ को बड़ा आनंद हुआ। कुछ देर बाद उसने और पूछा :- "आपको साधु हुए कितने बर्ष हुए ?"

**सूरिजी** - बावन बरस।

**आज्ञमङ्खाँ** - इतने बरसों में आपने कोई चमत्कार दिखानेवाली शक्ति प्राप्त की है ? कभी आपको खुदाके दर्शन हुए हैं ?

**सूरिजी** - खाँसाहिब ! खुदा संसार में नहीं आ सकता। इसलिए उसके दर्शन भी कैसे हो सकते हैं ? और चमत्कार दिखानेवाली शक्ति से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हम घर, बार, धनमाल, स्त्री, पुत्र आदि समस्त पदार्थों का त्याग कर चुके हैं। हमें न राज्यप्राप्तिकी इच्छा है और न पैसेही का लोभ है। हमें चमत्कारों से क्या लेना देना है ? हाँ, दुनिया में चमत्कारिणी विद्याएँ जरूर मौजूद हैं। परन्तु उनका साधन करनेवाले निःस्पृही और त्यागी महात्मा संसार में बहुत ही थोड़े हैं। कालिकाचार्य ईटका सोना बना देते थे। सनत्कुमार के थूक से शरीर का रोग मिट जाता था ? पहिले इसी तरह की और भी अनेक विद्याओं के जानेवाले महापुरुष थे। मगर उन्होंने अपनी संतति को इसलिए-विद्याएँ नहीं दीं कि वे इन विद्याओं का अभिमान करके कहीं अपना साधुत्व न नष्ट कर दें। अगले जमाने के साधु विद्याओं का दुरुपयोग नहीं करते थे। जब कभी धर्म का कोई कार्य आ पड़ता था तभी वे उनका उपयोग करते थे। अब भी साधु यदि अपने चारित्र को निर्मल रखें और साधुर्धम को बराबर पालें तो इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। चारित्र का प्रभाव ही ऐसा है कि, मनुष्य बिना जबान हिलाये ही हजारों पर अपना प्रभाव डाल सकता है। चारित्र के प्रभावही से साधुओं के पास आनेवाले जातिवैरवाले जन्तु भी अपना स्वभाव भूल जाते हैं। मगर चाहिए चारित्र की सम्पूर्ण निर्मलता। ऐसे चारित्रवान को मंत-तंत्रादि की भी आवश्यकता

नहीं पड़ती । उसके निर्मल चारित्रही से सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं । हम इस समय इसलिए खुदाकी बंदगी करते हैं और साधुर्धर्म पालते हैं कि धीरे धीरे हम भी खुदा के जैसे हो जाएँ ।

सूरिजी का कथन सुनने के बाद आज्ञमखाँ ने एख हास्योत्पादक कथा सुनाई । उसने कहा:-

“मेरे कहेका आप बुरा न मानें । हिन्दु लोग कभी खुदाको नहीं पा सकते । केवल मुसलमान ही पासकते हैं । देखिए एक बार हिन्दु और मुसलमानों के आपसमें झगड़ा हुआ । हिन्दु कहने लगे कि, खुदा के पास हम जा सकते हैं और मुसलमान कहने लगे कि हम जा सकते हैं । अन्त में यह स्थिर हुआ कि, दोनों एक एक आदमी को खुदा के पास रवाना करें । जिसका आदमी खुदा के पास जाकर आ जायेगा; समझना कि, वही पक्ष खुदाके पास है । फिर हिन्दुओंमें से एक बहुत बड़ा विद्वान् खुदा के पास जाने को तैयार हुआ । अपना शरीर छोड़कर वह खुदा के पास पहुँचने के लिये रवाना हुआ । रस्ते में उसे एक महान् भयानक और बीहड़ जंगल मिला । उसको पार करके वह आगे नहीं जा सका । इस लिए वापिस लौट आया । लोगों ने उसे पूछा कि, - “तुम खुदा के पास हो आये ?” तो उसने उत्तर दिया :- “हाँ, हो आया । ” फिर उससे पूछा गया कि, - “खुदा कैसा है ?” उसने उत्तर दिया:- “बड़ाही सुंदर है ।” मगर वह कोई चिह्न् न बता सका । इससे उसकी झुठाई खुल गई ।

“फिर एक मुसलमान अपना शरीर छोड़ कर खुदाके पास चला । रस्ते में उसने अनार, बादाम, किशिमश, चारोली, पिशता, आम आदि के फल देखे; स्वर्ण के महल देखे । झरणों में से अमृत के समान उसने जल पिया । आखिर वह मंजिले मक्सुद पर पहुँचा । उसने खुदाको रत्नजित सिंहासन पर बैठे और उनकी हाजरी में फरिश्तों की

फौजको खड़े देखा । खुदा को सलाम करके वह तत्काल ही वापिस लौटा । खुदा के पास जाकर आया है इस बातकी सुबूत के लिए वह एक मिरची का झूमका बगल में दबाकर लेता आया । इससे सिद्ध होता है कि, मुसलमानों के सिवा दूसरा कोई भी आदमी खुदा के पास नहीं जा सकता है ।”

इस कथा को सुनकर सूरिजी और उन के साथ के साधु हँसे । उन्हें हँसते देखकर आज्ञमखाँ ने पूछा :- “आप हँसते क्यों हैं ?

सूरिजी ने उत्तर दिया:- “आपकी इस कथाको सुनकर हँसी न आवे तो और क्या हो ? जिस मनुष्य में थोड़ी सी भी समझ है, वह आपकी इस कथाको सच मान सकता है ? मनुष्य शरीर छोड़कर खुदाके पास जाने को रवाना हो और जंगल को पार न कर सकने से वापिस लौट आवे या खुदा के पास पहुँचकर उसे रत्नजित सिंहासन पर बैठा देखे और वहाँ की निशानी के तौर पर रास्तेमें से मिरची का झूमका बगल में दबा कर लेता आवे, ये बातें क्या हवा में महल चुनानेकीसी नहीं हैं ? खुदा क्या शरीरवाला है जो स्वर्णसिंहासन पर जा बैठा ? जानेवाला मुसलमान जब शरीर ही यहाँ रख गया था तब उसके बगल फिर कहाँ से आ गई थी जिस में दबाकर मिरच का झूमका लेता आया था ।”

आज्ञमखाँ भी खिलखिला कर हँस पड़ा । उसने स्पष्ट कहा कि, मैंने सचमुच ही यह एक हवाई किलाही खड़ा किया था । उसने सूरिजी की बहुत प्रशंसा की और कहा:- “मेरे लायक कोई काम हो तो फर्माइए ।”

सूरिजीने झगड़शाह नाम के श्रावक को - जो कैद में था - छोड़ देने के लिए कहा । आज्ञमखाँ ने तत्काल ही उसको छोड़ दिया । उस पर एक लाख का जुर्माना किया था वह भी माफ कर दिया ।

उसके बाद बड़ी धूमधाम से आज्ञमखाँ ने सूरिजी को उपाश्रय पहुँचाया । झगड़शाह के छूटने से और आज्ञमखाँ पर सूरिजी का प्रभाव पड़ने से अहमदाबाद के श्रावक बहुत प्रसन्न हुए । अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए उन्होंने बहुतसा धन खर्चकर महोत्सव भी किया ।

आज्ञमखाँ को सूरिजी पर बहुत श्रद्धा हो गई थी । इसलिए जब उसको अवकाश मिलता तभी सूरिजी के पास जाता और उनके दर्शन करके व अमृतमय वचन सुनके आनंद मानता ।

कहा जाता है कि, सूरिजी ने वि.सं. १६५९ में जब ऊना में चौमासा किया था तब भी वह हज (मक्का की यात्रा) से वापिस लौटते वक्त सूरिजी के दर्शनार्थ गया था<sup>१</sup> । उस समय उसने सातसौ रुपये सूरिजी के भेट किये । सूरिजी ने उसे समझाया, - “हम लोग कंचन और कामिनी के सर्वथा त्यागी हैं । इसलिए हम ये रुपये नहीं ले सकते” आज्ञमखाँ ने वे रुपये दूसरे सन्मार्ग में खर्च कर दिये । वहाँ भी सूरिजी का उपदेश सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ था ।

### कासिमखाँ ।

वि.सं. १६४९ में सूरिजी पाटन गये थे । उस समय वहाँ का सूबेदार कासिमखाँ था ।

१. जूनागढ़ फतेह करने के बाद वि.सं. १६५० में आज्ञमखाँ कुटुंब परिवार, दासदासियों और सौ नौकरों को साथ में ले, सरकारी ओहदे और अमीरी को छोड़ मक्का गया था । मक्का से पीछे लौटते वक्त वह सूरिजी से वि.सं. १६५१ में मिला था । इससे मालूम होता है कि, यह मक्का में लगभग एक बरस तक रहा था । विशेष के लिए आईन-इ-अकबरी (ब्लॉक-मेनकृत अँग्रेजी अनुवाद) में पृ. ३२५ से ३२८ तक देखो ।

२. यह कुंदलिवालबारह के खान सैयदमुहम्मद का पुत्र था । यह पहिले खान आलम की मातृहती में नौकर रहा था । इसने मुहम्मद-हुसेन-मिर्जा का जो मुहम्मद

उस समय तेजसागर और सामलसागर नाम के दो साधुओं को किसी कारण से समुदाय बाहर की सजा दी गई थी । इससे वे दोनों साधु कुद्द होकर कासिमखाँ से मिले । उस समय उसके शरीर में कोई रोग था । साधुओं ने औषध करके वह रोग मिटा दिया । इससे कासिमखाँ उनसे प्रसन्न हुआ । और बोला :- “मेरे लायक कोई कार्य हो तो कहो ।” साधुओं ने कहा :- “अगर तुम हमसे खुश हो तो हीरविजयसूरि को समझाकर हमें वापिस समुदाय में शामिल करा दो ।”

कासिमखाँ ने तत्काल ही हीरविजयसूरिजी को अपने पास बुलाया । यद्यपि उसने यह सोचा था कि, मैं सूरिजी को दबाकर इन साधुओं को समुदाय में शामिल करा दूँगा । मगर हीरविजयसूरिजी को और उनकी भव्य आकृति को देखते ही उसका वह विचार जाता रहा । उनके चारित्र का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि, उसने जिस हेतु से सूरिजी को बुलाया था उसका कोई जिक्र ही नहीं किया । वह सादर उनके साथ वार्तालाप करने लगा । प्रसंगोपात्त सूरिजी ने उसको जीवहिंसा-त्याग का उपदेश दिया । कासिमखाँ ने कहा :-

“संसार में जीव जीवका भक्षण है । ऐसा कौन सा मनुष्य है जो जीवों का भक्षण नहीं करता है । लोग अनाज खाते हैं, वह क्या है ? उसमें भी तो जीव है । लोग अनाज के अनेक जीवों का भक्षण करते हैं, इसकी अपेक्षा केवल एक ही जीव का वध कर उसका भक्षण किया जाय तो इसमें बुराई क्या है ?”

अजीज कीका से हार कर दक्षिण में भागा था - पीछा करने में बीरता दिखाई थी । धीरे धीरे उसकी तरकी होती रही । अन्त में वह गुजरात का सुबेदार हुआ । ई.स. १६९८ में उसका देहान्त हुआ । मरा उस समय वह पन्द्रह सो सेना का नायक था । विशेष के लिए आईन-इ-अकबरी (ब्लॉक-मेनकृत अँग्रेजी अनुवाद) का ४१९ वाँ पृष्ठ देखो ।

सूरिजी बोले :- “सुनिए खाँसाहब ! खुदाने सारे जीवों पर महर रखने की आज्ञा की है । इस बात को शायद आप भी जरूर स्वीकार करेंगे । समस्त जीवों पर रहम-दया करके उसके भक्षण से दूर रहना, यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । मगर ऐसा करना मनुष्य जाति के लिए अशक्य है । क्योंकि पेट हरेक को भरना पड़ता है । इसलिए यह बात विचारणीय है कि, जीव हिंसा जितनी हो सके उतनी कम करके पेट कैसे भरा जा सकता है ?

“संसार में जीव दो तरह के हैं । ‘त्रस’ और ‘स्थावर’ । जो जीव अपने आप हलन चलन नहीं करते हैं वे ‘स्थावर’ कहलाते हैं । जैसे - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति । अनाज के जीव भी ‘स्थावर’ जीव हैं । जो जीव अपने आप हलनचलन कर सकते हैं वे त्रस जीव होते हैं । नरक, तिर्यक, मनुष्य और देव ‘त्रस’ कहलाते हैं । ‘स्थावर’ जीवों के सिर्फ एक ही इन्द्रीय होती है । ‘त्रस’ जीवों के दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्विन्द्रिय, द्विन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय की अपेक्षा चतुरन्द्रिय और चतुररन्द्रियकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय का पुण्य विशेष होता है । यदि पुण्य में न्यूनाधिकता न होती तो फिर इन्द्रियों में न्यूनाधिकता कैसे होती ? पाँच इन्द्रिय जीवों में भी पशु, मनुष्य आदि हैं । पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों का पुण्य ज्यादा होता है । मनुष्यों में भी पुण्य की न्यूनाधिकता है । कोई गरीब है और कोई राजा है । कोई साधु है और कोई गृहस्थ है । इस भिन्नता का कारण पुण्य की न्यूनाधिकता ही है । अब मैं आपसे पूछता हूँ कि, जो मनुष्य अनाज के जीवों को और पशुओं के जीवों को समान गिनके पशुओं का मांस खाते हैं, वे मनुष्यों का मांस क्यों नहीं खाते हैं ? क्योंकि उनकी मान्यतानुसार तो अनाज, पशु और मनुष्य सबके जीव समान ही हैं । मगर नहीं खाते । कारण-सारे जीवों के पुण्य में न्यूनाधिकता है । जिन जीवों

में पुण्य की न्यूनता है उन जीवों की हिंसा का पाप भी कम होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि, जब तक थोड़े पुण्यवाले जीवों की हिंसा से काम चलता है तब तक विशेष पुण्यवाले जीवों की हिंसा करना बुरा है । इस तरह जब हमारा कार्य अनाज से चल जाता है तब हमें विशेष इन्द्रियवाले जीवों का संहार किस लिए करना चाहिए । जो विशेष इन्द्रियवाले जीवों को खाते हैं - जो मांसाहारी हैं उनके अन्तःकरणों में, यह बात निर्विवाद है कि, खुदा के हुक्म के माफिक महर-दया नहीं रहती है ।”

सूरिजी के वक्तव्य से कासिमखाँ बहुत प्रसन्न हुआ । उसके अन्तःकरण में दयाभाव उत्पन्न हुए । उसने सूरिजी से कोई कार्य बताने को कहा । सूरिजी ने जो बकरे, भैंसे, पक्षी और बंदीवान बंद थे उन्हें छोड़ देने के लिए कहा । उसने सूरिजी की आज्ञा का पालन किया । सबको छोड़ दिया ।

इस कार्य द्वारा कासिमखाँ ने सूरिजी को प्रसन्न करके उनसे एक याचना की, -

“आपने अपने जिन दो शिष्यों को गच्छ बाहिर निकाला है उन्हें यदि आप वापिस गच्छ में ले लेंगे तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी ।”

सूरिजी ने कहा :- “सैयद साहब ! शायद आप जानते होंगे कि, हम मनुष्य को, उसके कल्याणार्थ, साधु बनाने के लिए कितना प्रयत्न करते हैं ? एक जीव संसारी बंधनों को तोड़कर साधु बनता है तब हमें बहुत आनंद होता है । जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब बने हुए साधुओं को हम, बिना ही कारण अलग कर दें यह कभी संभव है ? मगर किया क्या जाय ? वे किसीका कहना नहीं मानते और स्वतंत्र रहते हैं, इसीलिए मुझे ऐसा करना पड़ा है । तो भी आपके आग्रह को मानकर मैं उन्हें वापिस समुदाय में शामिल कर लेता हूँ; परन्तु आप उन्हें समझा दीजिए कि, वे आगे से हमेशा मेरी आज्ञा में रहें ।”

कासिमखाँ ने तत्काल ही तेजसागरजी और सामलसागरजी को बुलाया और कहा :- "महाराज, तुम्हें वापिस समुदाय में ले लेते हैं, मगर आगे से महाराज की आज्ञा का उल्लंघन न करना ।"

फिर सूरिजी को उसने जुलूस के साथ उपाश्रय पहुँचाया ।

### ‘सुल्तान मुराद

वि.सं. १६५० में पाटन से सिद्धाचलजी जाने के लिए एक बहुत बड़ा संघ निकला था । सूरिजी भी उसके साथ थे । संघ जब अहमदाबाद पहुँचा तब सुल्तान मुराद ने सूरिजी और संघ का बहुत सत्कार किया । उसने उत्तमोत्तम रूप रखकर सूरिजी की पूजा की और संघ का भी अच्छा आतिथ्य किया ।

सुल्तान ने सूरिजी के मुख से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की । सूरिजी ने उसे धर्मोपदेश दिया । सूरिजी ने उस समय हिंसा का त्याग, सत्या का आचरण, परस्ती त्याग, अनीति अन्याय से दूर रहने, और भंग, अफीम, मदिरा आदि व्यसनों से बचने का खास उपदेश दिया । उसने सूरिजी के उपदेश को मानकर उस दिन कोई जीव हिंसा न करे ऐसा ढिंढोरा पिटवा दिया । जब सूरिजी ने वहाँ से विहार किया तब उसने दो मेवड़े भी उनके साथ भेजे ।

इसके उपरान्त सूरिजी ने अपने भ्रमण में दूसरे भी अनेक सुल्तानों और सूबेदारों को उपदेश दिया था और उनसे जीवदया के कार्य कराये थे ।

१. अहमदाबाद का सूबेदार आजमखाँ जब मक्का की यात्रा के लिये गया था तब उसके स्थान में बादशाह अकबर ने अपने पुत्र सुल्तान मुराद को नियत किया था । इसके बारे में जो विशेष जानना चाहें वे 'मीराते अहमदी' (गुजराती अनुवाद) का पृ. १८६ देखें ।

### प्रकरण आठवाँ ।

#### दीक्षादान ।

कुदरत अपना काम किये ही जाती है । कुदरती कानूनों के विरुद्ध चलने की कोशिश में मनुष्य को कभी सफलता नहीं मिलती । समय के अनकूल प्रत्येक प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ ही करता है । आबू गिरिनार, तारंगा, पालीताना और राणकपुर आदि के गगनस्पर्शी और भव्य मंदिर आज भी भारत की प्राचीन विभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहे हैं । उनको देखने से कइयों के मन में यह प्रश्न उठा करता है कि, - "उस काल के वे लक्ष्मीपुत्र कैसे थे कि, जिन्होंने अपनी अखूट लक्ष्मी का व्यय ऐसे मंदिर बनवाने में किया । क्यों नहीं उन्हें बोर्डिंग, बालाश्रम, विश्वविद्यालय, अनाथाश्रम और पाठशालाएँ आदि स्थापन करने का ख्याल आया ?"

ऐसी कल्पना करनेवाले यदि थोड़ा बहुत संसार की परिवर्तनशीलता का अवलोकन करेंगे तो उनका हृदय ही उनके प्रश्नों का उत्तर दे देगा । कोई समय समान नहीं रहता । उसमें परिवर्तन हुआ ही करता है । जिस जमाने में जैसे कार्यों की आवश्यकता मालूम होती है उस जमाने में मनुष्यों की बुद्धि उसी प्रकार की हो जाती है । कोई काल दर्शन के उदय का आता है । उस समय लोगों की प्रवृत्ति मुख्यतया स्थान स्थान पर मंदिर बनवाने, प्रतिष्ठाएँ करवाने, संघ निकालने और बड़े बड़े उत्सव कराने की तरफ होती है । कोई समय ज्ञान के उदय का आता है उस समय लोग, स्थान स्थान पर पाठशालाएँ स्कूल बनवाने, विश्वविद्यालय स्थापन करने और पुस्तकालयों का उद्घाटन करने में लग जाते हैं । कोई समय चारित्र के उदयका आता है उस समय साधुओं की वृद्धि ही दृष्टिगत होती है ।

विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दि का समय, जिस समय का हम जिक्र कर रहे हैं, प्रधानतया चारित्र के उदय का था। उस समय संसार की अनित्यता का भान होते ही बहुत से गृहस्थ, बहुत से गर्भश्रीमंत भी गृहस्थावस्था का परित्याग कर चारित्र (दीक्षा) ग्रहण कर लेते थे। और इसी का यह परिणाम था कि, सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों की संख्या में जैनसाधु विचरण करते थे।

कर्तव्यप्रष्ट मनुष्य संसार में निंदा पात्र बनते हैं। यद्यपि यह बात सत्य है कि, संसार के समस्त मनुष्य समान प्रकृति के समान विद्वत्तावाले और समान ही कार्य करनेवाले नहीं होते। तो भी इतना जरूर है कि, किसीको अपने लक्ष्यबिंदु से च्युत नहीं होना चाहिए। ऐसे दीक्षा लेनेवाले को यह भली प्रकार से समझ लेना चाहिए कि, दीक्षा लेने का उद्देश्य क्या है? इसी तरह दीक्षा देनेवाले को भी यह न भूल जाना चाहिए कि, दीक्षा देने का उद्देश्य क्या है?

दीक्षा परम सुख का कारण है। दीक्षा मोक्ष की निसेनी है। दीक्षित मनुष्य जिस सुख का अनुभव करता है, वह इन्द्र, चंद्र नागेन्द्र को भी नहीं मिलता। ऐसी इस भव और परभव दोनों में सुख देनेवाली दीक्षा अंगीकार करना प्रत्येक सुखाभिलाषी मनुष्य के लिए आवश्यक है। मगर उस और मनुष्य की अभिरुचि नहीं होती। इसका कारण संसार के अनित्य पदार्थों पर की आसक्ति और चारित्र के महत्व की अज्ञानता है। कई बार ऐसा भी बनता है कि, दीक्षा लेने के बाद भी मनुष्य स्व-पर-उपकार का साधन करने में तत्पर नहीं रहता है, विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाता है, मोहमूर्छा से मूर्च्छित बन जाता है। उसकी स्थिति धोबी के गधे की सी हो जाती है। वह आप भी डूबता है और दूसरी भी अनेक आत्माओं को अपने साथ में डुबोता है। मगर ऐसी स्थिति उसी मनुष्य की होती है जिसका दीक्षा का यह उद्देश्य होता है, -

मूँड मुँडाये तीन गुण, मिटे सीस की खाज।  
खाने को लड्डू मिलें, लोक कहें महाराज॥

मगर जो “साध्नोति स्व-परकार्याणीति साधुः” अथवा “यतते इन्द्रियाणीति यतिः” इन वाक्यों की जो अपने हृदयपट पर अंकित कर रखते हैं, उनकी स्थिति कभी ऐसी नहीं होती। इसीलिए कहा गया है कि, मनुष्य अपने लक्ष्यबिंदु को न चूके।

इसी प्रकार दीक्षादान करनेवाले को चाहिए कि, वह अपनी उदार भावना को हमेशा स्थिर रखें। यह कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं दिखती कि, दीक्षा लेनेवाले की अपेक्षा देनेवाले पर उत्तर दायित्व विशेष रहता है। उसको हमेशा इस बात का प्रयत्न करना पड़ता है कि, दीक्षा लेनेवाला जगत् का कल्याणकर्ता कैसे हो? विषय-वासनाओं से उसका चित्त कैसे हटे? उसका जीवन आदर्श कैसे बने? आदि। इस प्रकार सचेष्ट वही गुरु-दीक्षा देनेवाला रह सकता है कि, जो संसार के आरंभ समारंभ में मस्त और विषय-वासना तथा क्रोधादि कषायों से तृप्त जीव को, दया और शासनहित की भावना से, दीक्षा देता है। मगर जो सिर्फ बहुत से शिष्यों के गुरु कहलाने के लोभ से और मिथ्या आडंबर से लोगों को खुश करने की इच्छा से दीक्षाएँ देते हैं, वे दीक्षा लेनेवाले की कोई भलाई नहीं कर सकते। वे तो मनुष्य को गृहस्थावस्था से निकाल कर अपने समुदाय में मिला लेने में ही अपने कर्तव्य की ‘इतिश्री’ समझते हैं। इसका परिणाम प्रायः यह आता है कि, दीक्षा लेनेवाला थोड़े ही दिनों में वापिस गृहस्थी बन जाता है। यदि कोई कुल की लाज से गृहस्थी नहीं बनता है तो भी उसको जीवनभर, साधुता में जो वास्तविक सुख है वह नहीं मिलता। न तो वह समाज की भलाई

१. जो स्व-पर कार्यों की साधना करता है वह साधु होता है।

२. जो इन्द्रियों को वश में रखता है, वह ‘यति’ होता है।

कर सकता है और न वह अपना हित ही कर सकता है । ऐसे गुरु और शिष्य सचमुच ही समाज के लिए भाररूप हो जाते हैं ।

अपने नायक हीरविजयसूरि महान् विचक्षण, शासनप्रेमी और जगत् के कल्याण की इच्छा करनेवाले थे । इसीलिए वे जब कभी किसीको दीक्षा देते थे तब पवित्र उद्देश्य को सामने रखकर ही देते थे । उनके उपदेश से अनेक दीक्षा लेने को तैयार होते थे । उन्हें दीक्षा देने के अनेक प्रसंग मिले । उनमें से थोड़े से प्रसंगों का यहाँ उल्लेख किया जाता है । उनसे पाठकों को उस समय की दीक्षाओं, मनुष्यों की भावनाओं और अन्य कई व्यावहारिक बातों का स्वरूप मालूम हो जायगा ।

एक प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि, जिस समय की हम बात कर रहे हैं उस समय कई स्वच्छंदी पुरुष नये नये मत निकालने और उनके प्रचार करने में थोड़े बहुत सफल हो जाते थे । इस समय हीरविजयसूरि के समान धर्मरक्षकों को विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना पड़ता था ।

लौंका नामक गृहस्थ के मत को - जिसका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है - माननेवाले यद्यपि अनेक साधु और गृहस्थ थे, तथापि जबसे जगह जगह हीरविजयसूरि सप्रमाण मूर्तिपूजा को सिद्ध करने लगे तबसे मूर्तिको नहीं माननेवाले अनेक साधुओं और शरावकों के विचार फिरने लगे । इतना ही नहीं अनेक साधु तो अपने मत को छोड़कर हीरविजयसूरिजी के पास पुनः दीक्षित हुए । और मूर्तिपूजक बने । इस तरह लौंकामत छोड़कर मूर्तिपूजक बने हुए साधुओं में से मेघजीत्रघषि जो एक साथ तीस साधुओं सहित अपना मत छोड़कर तपागच्छ में आये थे - दीक्षा प्रसंग का यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

लौंकामत में मेघजी नामक एक साधु मुख्य गिना जाता था । यद्यपि पहिले वह लौंका का अनुयायी था, मगर पीछे से जैनसूत्रों का अवलोकन करने से उसको विदित हुआ कि, जैनसूत्रों में मूर्तिपूजा का उल्लेख है । मगर जो मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं वे झूठे हैं, कदाग्रही हैं । मेघजी की ऋद्धा मूर्ति और मूर्तिपूजा को मानने की हुई । शनैः २ उसने अनय भी कई साधुओं को अपनी मान्यता समझाई । वे भी उसको ठीक समझने लगे । तपागच्छ के साधुओं में उस समय हीरविजयसूरि मुख्य थे । मेघजी आदि लौंकागच्छ के अनुयायी साधुओं की इच्छा हीरविजयसूरि से तपागच्छ की दीक्षा लेने की हुई । सूरिजी को इस बातकी सूचना मिलते ही वे तत्काल ही अहमदाबाद में आये । क्योंकि उस समय मेघजी आदि साधु वहीं थे । सूरिजी के अहमदाबाद पहुँचने पर मेघजी आदि ने उनसे पुनः दीक्षा ग्रहण करना स्थिर किया । अहमदाबाद के श्रीसंघ ने उत्सव करना प्रारंभ किया ।

उस समय एक और भी आश्वर्योत्पादक बात हुई । वह यह है, - सप्राट अकबर उस समय अचानक ही अहमदाबाद आ गया था<sup>१</sup> । साथ में उसका कृपापात्र अनुचर थानसिंह रामजी नामक जैनगृहस्थ भी था । उसके प्रभाव से शाही बाजा पलटन आदि भी इस उत्सव के लिए मिले थे । उससे उत्सव का और जैनों का गौरव बढ़ गया था ।

१. अकबर का यह आगमन उस समय का है कि, जब उसने गुजरात पर प्रथम बार चढ़ाई की थी । वह ई.सं. १५७२ के नवम्बर की २० वीं तारीख को अहमदाबाद में आया था और ई.सं. १५७३ की १३ वीं अप्रैल को गुजरात छोड़ कर चला गया था । लगभग पाँच महीने तक वह गुजरात में रहा था । (देखो - 'अकबरनामा,' ३ रा भाग, बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ११ से ४८ तक) उसी समय मेघजी की दीक्षा का प्रसंग भी आया था ।

इस प्रकार बड़ी धूमधाम से मेघजी<sup>१</sup> ऋषिने लौंकामत का त्याग कर हीरविजयसूरिजी के पास संवत् १६२८ में दीक्षा ली। सूरिजी ने मेघजी का नाम उद्योतविजय रखा।

मेघजी के समान एक प्रभावशाली साधु अपने मत को छोड़कर शुद्ध मार्ग पर आया, उसके तीस<sup>२</sup> शिष्य-अनुयायी भी उसके साथ तपागच्छ में दाखिल हुए, और हीरविजयसूरि से दीक्षित हुए। उन तीस में मुख्य आंबो, भोजो, श्रीवंत, नाकर, लाडण, गांगो, गणो (गुणविजय) माधव और वीर आदि थे। उनके गृहस्थ अनुयायी दोसी श्रीवंत, देवजी, लालजी और हंसराज आदि भी सूरिजी के अनुयायी बने।

१. ऋषभदास कवि के कथन से मालूम होता है कि, मेघजी गृहस्थावस्था में प्रावंशी था।

२. मेघजी ने कितने साधुओं के साथ सूरिजी से पुनः दीक्षा ली, इस विषय में लेखकों के भिन्न मत हैं। 'हीरसौभाग्य' काव्य के नवमें सर्ग के ११५ वें श्लोक में तीस आदिमियों के दीक्षा लेना लिखा है - 'विनेयैत्तिशता समम्'

इसी प्रकार कवि ऋषभदास भी हीरविजयसूरिरास में तीस के साथ दीक्षा लेना लिखता है, - 'साथइं साथ लिअे नर त्रीश।'

'विजयप्रशस्ति' काव्य के आठवें सर्ग के नववें श्लोक की टीका में लिखा है कि, दीक्षा सत्ताईस ने ली थी - 'सप्तविंशतिसंख्यैः परीतः सन्'

गुणविजयजी के शिष्य संघविजयजी ने वि.सं. १६७९ के निगसर सुद ५ के दिन बनाये हुए 'अमरसेन-वयरसेन' आख्यान में लिखा है कि, उन्होंने अठाईस ऋषियों के साथ आकर प्रसन्नतापूर्वक हीरविजयसूरि को बंदना की। ('अट्ठावीस ऋषिस्युं परवर्या, आवी वंदइ नमकोडि' १७) इन्हीं संघविजयजी ने 'सिंहासनबतीपी' में भी अठाईस के साथ दीक्षा लेने का उल्लेख किया है। इसलिए यह स्थिर नहीं किया जा सकता है कि, मेघजीऋषि के साथ कितनों ने दीक्षा ली थी। यह संभव है कि, पहिले मेघजी के साथ तीस तत्पर हुए हों और पीछे से दो तीन निकल गये हों और लेखकों ने निकले हुओं को कम करके संख्या लिखी हों।

यह बात अभूतपूर्व हुई। इससे जैसे श्वेतांबर मूर्तिपूजकों की प्रशंसा हुई वैसे ही हीरविजयसूरिजी के प्रभाव में भी बहुत ज्यादा अभिवृद्धि हो गई। मेघजी आदि मुनियों की प्रशंसा इनसे भी ज्यादा हुई। क्योंकि उन्होंने सत्य का स्वीकार करने में लोकापवाद का लेशमात्र भी भय न रखा।

चरित्रनायक सूरिजी गीतार्थ थे। वे उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग को जानते थे। शासन के प्रभावक थे। उनको न था शिष्यों का लोभ और न थी मान की अभिलाषा। उनके अन्तःकरण में केवल यही भावना रहती थी कि, जगजीवों का कल्याण कैसे हो? जैन धर्म में प्रभावक पुरुष कैसे पैदा हों? और स्थान स्थान पर जैन धर्म की विजयवैजयन्ती कैसे फहरावे? और इसीलिए उनके उपदेश का इतना प्रभाव होता था कि, अनेक बार अनेक लोग उनके पास दीक्षा लेने को तत्पर होते थे। शुद्ध हृदय और परोपकारबुद्धि प्रेरित उपदेश असर क्यों न करेगा?

वि.सं. १६२१ में हीरविजयसूरि जब खंभात में थे, तब उन्होंने एक साथ ग्यारह मनुष्यों को दीक्षा दी थी। यह और ऊपर की बात यही प्रमाणित करी है। इन दोनों बातों पर विशेष रूप से प्रकाश डालने से पाठकों को विदित होगा कि, उस समय के लोग आत्मकल्याण करने के लिए कितने उत्सुक रहते थे।

पाटन में अभ्यराज नामका एक ओसवाल गृहस्थ रहता था। वह कालान्तर में अपने कुटुंब सहित दीव बंदर में जा रहा। अभ्यराज दीव बंदर का एक बहुत बड़ा व्यापारी समझा जाता था। कारण - चार तो उसके पास वाहण-जहाज ही थे। उसने अपने ही उद्योग से धन कमाया था। उसकी स्त्री का नाम अमरादे था। उसके

गंगा नामक एक कन्या भी थी। वह बालकुँवारी थी। कलमविजयजी<sup>१</sup> पन्नास की एक साध्वी के पास वह निरन्तर अध्ययन किया करती थी। अध्ययन करते हुए उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने अपनी माता से दीक्षा लेने की बात कही। माता को बहुत दुःख हुआ। उसके पिताने उसे समझाया कि दीक्षा लेने की अपेक्षा उसको पालने में कितना ज्यादा-कष्ट उठाना पड़ता है; उसमें कितने धैर्य और कितनी सहनशीलता की आवश्यकता है। मगर गंगा अपने निश्चय पर दृढ़ रही। माताने कहा:- “अगर तू दीक्षा लेगी तो मैं भी तेरे साथ दीक्षा ले लूँगी।” अभयकुमार ने सोचा, - जब कन्या और पत्नी दोनों मिलकर दीक्षा ले रहे हैं, तब मैं भी क्यों न दीक्षित हो

१. ये बड़े कमलविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका मूल निवास द्रोणाड़ा (मारवाड़) था। ये छाजेड़ गोत्र के ओसवाल थे। उनके मातापिता का नाम गेलमदे और गोविंदशाह था। उनका जन्म नाम केलहराज था। बारह वर्ष की आयु ही में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। इसलिए वे अपनी माता के साथ जालोर (मारवाड़) गये। वहाँ पंडित अमरविजयजी के सहवास से उनके हृदय में दीक्षा लेने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। बड़ी कठिनता से उन्होंने माता से आज्ञा लेकर धूमधाम के साथ पं. अमरविजयजी के पास दीक्षा ली। नाम कमलविजयजी रखा गया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने आगमों-शास्त्रों का अच्छा अभ्यास कर लिया। उनको योग्य समझकर आचार्य श्री विजयदानसूरि ने उनको गंधार में पंडित पद दिया (वि.सं. १६१४) में उन्होंने मारवाड़, मेवाड़ और सोरठ आदि देशों में विहार किया था, और अनेकों को उपदेश देकर दीक्षित किया था। उनकी त्यागवृत्ति बहुत ही प्रशंसनीय थी। महीने में छः उपवास तो वे नियमित किया करते थे। नित्यप्रति ज्यादा से ज्यादा, वे दिनभर में केवल सात चौंकों का उपयोग करते थे। वि.सं. १६६१ में उन्होंने आचार्य श्री विजयसेनसूरि के आदेश से महेसाने में चातुर्मास किया था। वहाँ आषाढ़ सुदी १२ के दिन उनके शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई। यद्यपि सात दिन का उपवास करने के बाद कुछ दिन के लिए उनका रोग शान्त हुआ था, तथापि उसी महीने के अन्त में आषाढ़ सुद १२ के दिन ७२ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। (विशेष के लिए ऐतिहासिक राससंग्रह, भा. ३ रा पु. १२९ देखो।)

जाऊँ। सोचता था, मगर उसके मार्ग में एक बाधा थी। उसके एक मेघकुमार नामका लड़का था। उसकी उम्र छोटी थी। इससे अभयकुमार सोचता था कि, मेरे बाद लड़के की क्या दशा होगी। एक दिन उसने कहा :- “वत्स ! तेरी बहिन, तेरी माता और मैं तीनों आदमी दीक्षा लेंगे। तू सुखपूर्वक संसार में रहना और आनंद करना।”

मेघकुमार ने उत्तर दिया :- “पिताजी ! आप मेरी चिन्ता न कीजिए। मैं भी आपही के साथी दीक्षा लेने को तैयार हूँ। अपने मातापिता और अपनी बहिन के साथे मुझे दीक्षा लेने का अवसर मिलता है यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात है। ऐसा अपूर्व अवसर मुझे फिर कब मिलेगा ?”

पुत्र की बात से अभयराज को बहुत प्रसन्नता हुई। आत्मकल्याण के सोपान पर चढ़ने को तत्पर बने पुत्र के शब्दों से उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मेघकुमार की वैराग्य भावना देख कर उसकी काकी को भी दीक्षा लेने की इच्छा हुई। एक एक करके सारे कुटुंब (पाँच आदमियों को) दीक्षा लेने के लिए तैयार होते देख कर अभयराज के चार मुनीम-गुमास्तों को भी संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने भी उनके साथ दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। इस तरह नौ मनुष्यों का एक साथ दीक्षा लेने का विचार स्थिर हुआ। फिर अभयकुमार ने आचार्य श्री हीरविजयसूरि को एक पत्र लिखा। उसमें उसने उक्त आठ आदमीयों सहित दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। सूरिजी उस समय खंभात में थे। उत्तर में दीक्षा देने की प्रसन्नता प्रकट की।

ऐसे लज्जासंपन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, धनसम्पन्न और हर

तरह से योग्य वैरागी मनुष्यों को दीक्षा देने की आचार्य श्री उत्सुकता बतावें इसमें आश्र्वय की कोई बात नहीं है।

सूरिजी का उत्तर मिलते ही अभ्यराज सबको लेकर खंभात गये। वहाँ वे वाघजीशाह नामक गृहस्थ के घर पर ठहरे। दीक्षोत्सव की तैयारी होने लगी। आसपास के गाँवों के लोग जमा होने लगे। अभ्यराज की ओर से नित्यप्रति साधर्मीवत्सल होने लगे। दान दिया जाने लगा। इस तरह बराबर तीन महीने तक शुभ कार्य होते रहे। लगभग ३५ हजार 'महमूंदिका' (उस समय का चलनी सिक्का) खर्च हुई। अभ्यराज का लक्ष्मी पाना सार्थक हुआ।

इस तरह धनधान्य, ऋद्धि-सिद्धि का परित्याग कर; उनको शुभ कार्य में लगा अभ्यराज ने अपनी स्त्री, पुत्री, भाई की पत्नी, पुत्र और चार नौकरों सहित खंभात के पास के 'कंसारीपुर' में आंबा

१. 'कंसारीपुर' खंभात से लगभग एक माइल के अन्तर पर एक छोटा सा गाँव है। यद्यपि इस समय वहाँ न कोई मंदिर ही है और न कोई आवक का घर ही, तथापि कई प्रमाणों से यह मालूम होता है कि पहिले वहाँ ये सब कुछ थे। सत्रहवीं शताब्दि के सुप्रसिद्ध कवि ऋषभदास ने खंभात की चैत्यपरि पाटी बनाई हैं। वह उसीके हाथ की लिखी हुई है, उसमें कंसारीपुर का वर्णन करते हुए वह लिखता है,

भीडिभंजन जिनपूजवा, 'कंसारीपुर' माँहि जईङ्ग;  
बावीस ब्यंब (बिंब) तिहां नमी, भविक जीव निर्मलहृ थईङ्ग।  
बीजइ देहरइ जइ नमुं स्वामि ऋषभजिणंद;  
सत्तावीस ब्यंब प्रणमता, सुपरषमनि आणंद ॥ ४६ ॥

इससे मालूम होता है कि, 'कंसारीपुर' में उस समय दो मंदिर थे। एक था ऋषभदेव का और दूसरा था भीडिभंजन पार्श्वनाथ का। ऋषभदेव के मंदिर में सत्ताईस प्रतिमाएँ थीं और भीडिभंजनपार्श्वनाथ के मंदिर में बाईस।

सं. १६३९ में सुधर्मगच्छ के आचार्य श्री विनयदेवसूरि खंभात गये थे। तब

सरोवर के पास रायण वृक्ष के नीचे, हीरविजयसूरि से दीक्षा ले ली।

इस भाँति एक साथ नौ मनुष्यों को दीक्षा लेते देख, श्रीमाली ज्ञाति के नाना नागजी नामक गृहस्थ को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया। इससे उसने भी उसी समय दीक्षा ले ली। उसका नाम भाणविजय रक्खा गया।

इस तरह क्षणमात्र में वैराग्य के उत्पन्न होते ही दीक्षा का लेना या देना कइयों को अनुचित मालूम होगा। मगर वस्तुतः वह अनुचित नहीं था। क्योंकि 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' श्रेष्ठ कार्यों में अनेक विघ्नों

वे 'कंसारीपुर' में तीन दिन तक ठहरे थे। उस समय उन्होंने वहाँ पार्श्वनाथ के दर्शन किये थे। मनजीत्रघ्नि ने यह बात विनयदेवसूरि रास में लिखी है।

गछपति पांगर्या, परिवारइ बहु परवर्या,  
गुणभर्या कंसारीइ आविया प;  
पासजिणंद ए अश्वसेनकुलिचंद ए;  
वृंद ए भावधीनइ वंदीया ए;  
वंद्या पासजिणेसर भावइ त्रिण दिवस थोभी करी;  
हवइ नयरि आवइ मोती वधावइ शुभ दिवस मनस्यउं धरी ॥

इसी भाँति विधिपक्षीय श्री गजसागरसूरि के शिष्य ललितसागर के शिष्य मतिसागर ने भी सं. १७०१ में खंभात की तीर्थमाला बनाई है। उसमें भी उन्होंने चिन्तामणिपार्श्वनाथ का आदिनाथ का और नैमिनाथ का इस तरह तीन मंदिरों का होना लिखा है।

अभी खंभात के खारवाड़ा के मंदिर में 'कंसारीपार्श्वनाथ' की मूर्ति है। कहा जाता है कि, यह मूर्ति कंसारीपुर से लाई गई थी। संभव है कि, यही पार्श्वनाथ की मूर्ति पहिले भीडिभंजनपार्श्वनाथ के नामसे ख्यात हो

२. वर्तमान में 'आंबा सरोवर' का नाम 'आंबाखाड़' है। यह कंसारीपुर से लगभग आधे माइल की दूरी पर पश्चिम दिशा में है।

की संभावना रहती है, इसीलिए कहा है कि, धर्मस्य त्वरिता गतिः धर्म के कार्य में देर नहीं करना चाहिए। उसमें भी मुख्यतया दीक्षाकार्य के लिए तो हिन्दुधर्म शास्त्रों में भी यही कहा गया है कि, - यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। यानि जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन दीक्षा ले लेनी चाहिए। यह ठीक ही है। जिस समय तीव्र वैराग्य हो उसी समय, एक मुहूर्त की भी प्रतीक्षा न कर दीक्षा ले लेनी चाहिए। न जाने दूसरे मुहूर्त में कैसे विचार आवें और शुभ समय हाथ से जाता रहे। हाँ, यह बात ठीक है कि, दीक्षा देनेवाले को लेनेवाले की योग्यता का विचार अवश्यमेव कर लेना चाहिए।

दूसरे प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि, हीरविजयसूरि एक बार जब खंभात में गये थे तब वहाँ के 'रत्नपाल दोशी' नामक गृहस्थ ने सूरजी को वचन दिया था कि, 'मेरा लड़का रामजी बीमार है, यदि वह अच्छा हो जायगा तो, मैं उसे, अगर वह चाहेगा तो आपके सिपुर्द कर दूँगा। पीछे से वह लड़का अच्छा हो गया तो भी सूरजी को न सौंपा गया<sup>१</sup>।' रामजी इस दीक्षा के समय वहीं खड़ा था। वह पहिले ही से यह जानता था कि, मेरे मातापिता ने मुझे हीरविजयसूरजी को सौंपने का वचन दिया था। मगर पीछे से सौंपा नहीं था। यद्यपि मैं सौंपा नहीं गया हूँ तथापि वास्तव में तो मैं सूरजी का शिष्य हो चूका हूँ। अतः मुझे उनकी सेवा में जाना ही चाहिए। इसी जानकारी के कारण, पिताका आग्रह होने पर भी उसने व्याह नहीं किया था।

जिस वक्त दस आदमियों की दीक्षा हो रही थी उस समय रामजी भी वहीं मौजूद था। उसका मन ऐसे अपूर्व प्रसंग पर दीक्षा लेने के लिये तलमला रहा था। मगर करता क्या? उसका पिता

१. पृष्ठ २७ देखो।

और उसकी बहिन इसके सख्त विरोधी थे? रामजी ने भानुविजयजी जिन्होंने रामजी के कहने ही से दीक्षा ली थी - नामक साधु की ओर देखा और उसको इशारे से समझाया कि, मुझे किसी न किसी तरह से दीक्षा दो।

उस समय कुछ ऐसा प्रयत्न किया गया कि, उसी समय गोपालजी नामका एक श्रावक रामजी को रथ में बिठाकर पीपलोई<sup>२</sup> ले गया। उसके पीछे एक पन्नास भी गया। उसने जाकर रामजी को दीक्षा दी। वहाँ से बड़ली<sup>३</sup> गये।

दिक्षा लेनेवाले का मन यदि दृढ़ होता है तो हजारों विघ्र भी कुछ नहीं कर सकते हैं। यह बात निर्विवाद है। रामजी का मन दृढ़ था। दीक्षा लेने की उसके हृदय में इच्छा थी तो दूर जाकर भी अन्त में उसने दीक्षा ले ली। यद्यपि इस प्रकार की दीक्षा से उसके बहिन भाइयों ने गड़बड़ मचाइ परन्तु पीछे से उदयकरण के समझाने से वे समझ गये थे। नवदीक्षित रामजी खंभात बुलाया गया और उसकी दीक्षा के लिये उत्सव मनाया गया।

उपर्युक्त प्रकार से मेघकुमार (मेघविजय) आदि ग्यारह मनुष्यों ने एक साथ दीक्षा ली। अहमदाबाद में भी इसी प्रकार एक प्रसंग बना था। वहाँ भी सूरजी ने एक साथ अठारह मनुष्यों को दीक्षा दी थी।

वीरमगाँव में वीरजी मलिक नाम का एक बजीर रहता था।

१. पीपलोई खंभात से ६-७ माइल दूर है। वर्तमान में भी उसको पीपलोई ही कहते हैं।

२. बड़ली को वर्तमान में बड़दला कहते हैं। अभी वहाँ कोई मंदिर नहीं है। मगर श्रावकों के थोड़े से घर अब भी वहाँ हैं। खंभात से यह ९-१० माइल दूर है।

वह पोरवाल ज्ञाति का था। यह मनुष्य बड़ा नामी और प्रभावशाली था। पाँचसौ घुड़सवार हर समय उसके साथ रहते थे। वीरजी का पुत्र सहसकरण मलिक था। यह भी बहुत प्रसिद्ध था। महम्मद शाह<sup>१</sup> बादशाह का मंत्री था। सहसकरण के गोपालजी नामका एक पुत्र था।

गोपालजी की बचपन ही से धर्म पर अच्छी प्रीति थी। उसका हृदय विषयवासना से सदा विरक्त रहता था। गोपालजी साधुओं के सहवास में ज्यादा रहता था। उसने छोटी उम्रेमें ही न्याय-व्याकरण आदि का अच्छा अभ्यास कर लिया था। नैसर्गिक शक्ति के कारण वह अपनी छोटी आयु ही में कविता करने लगा था। बारह वर्ष की आयु में उसने ब्रह्मचर्य ब्रत लिया था।

थोड़े ही काल के बाद गोपालजी का हृदय वैराग्यवासित हो गया। उसके हृदय में दीक्षा लेने की भावना लहराने लगी। उसने हार्दिक भाव अपने कुटुंबियों से कहे। कुटुंबी विरोधी हुए। मगर वह अपने विचार से न टला। इतना ही नहीं, उसने अपने भाई कल्याणजी और अपनी बहिन को भी दीक्षा लेने के लिए तत्पर किया। तीनों भाईबहिन हीरविजयसूरि के पास अहमदाबाद गये। वे वहाँ जौहरी कुँवरजी के यहाँ उतरे। दीक्षा का उत्सव प्रारंभ हुआ। जुलूस निकलने लगे। कुँवरजी जौहरी ने इस उत्सव में बहुतसा धन खर्चा। गोपालजी और कल्याणजी को दीक्षा लेते देख शाह गणजी नामक एक व्यक्ति को भी वैराग्य हो आया। उसने भी उन्हीं के साथ दीक्षा ले ली। इनके सिवाय धनविजय नामक साधु हुए। उनके साथ ही उनके दो भाईयों (कमल और विमल) तथा मत्तापिता ने

१. यह वह महम्मदशाह है कि, जिसने ई.स. १५३६ से १५५४ तक राज्य किया था। विशेष के लिये देखो 'मुसलमानी रियासत' (गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित) पृ. २२२.

भी दिक्षा ले ली। इनके अलावा सदयवच्छ भणशाली, पद्मविजय, देवविजय और विजयर्हष आदि ऐसे सब मिलांकर अठारह आदमियों ने उस समय दीक्षा ली थी।

गोपालजी का नाम सोमविजय रखा गया था। ये वे ही सोमविजयजी हैं कि, जिन्हें उपाध्याय की पदवी थी और जो हीरविजयसूरि के प्रधान थे। कल्याणजी का नाम कीर्तिविजय जी और उनकी बहिन का नाम साध्वी विमलश्री रखा गया था। ये वेही कीर्तिविजयजी हैं कि, सुप्रसिद्ध उपाध्याय श्रीविनयविजयजी के गुरु थे।

**हीरविजयसूरि प्रायः**: ऐसोंही को दीक्षा दिया करते थे कि, जो खानदानी और लज्जा-विनयादि गुणसम्पन्न होते थे। यह बात बिलकुल ठीक है कि, जब तक ऐसे मनुष्यों को दीक्षा नहीं दी जाती है; दूसरे शब्दों में कहें तो - जब तक उत्तम कुल के और व्यावहारिक कार्यों में कुशल बहादुर मनुष्य दीक्षा नहीं लेते हैं, तब तक वे साधुवेष में रहते हुए भी शासन के प्रति जो उनका कर्तव्य होता है उसको पूर्ण नहीं कर सकते हैं। यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि, देश, समाज या धर्म की उन्नति का मुख्य आधार साधु ही हैं। जब तक साधु सच्चे निःस्वार्थी, त्यागी और उपदेशक नहीं होते हैं, तब तक उन्नति की आशा केवल भावना में ही रह जाती है। जब जब शासन में महान् कार्य हुए हैं, तब तब उसमें मुख्यता साधुओं की ही रही है। यानी साधुओं के उपदेश से ही महान् कार्य हुए हैं। देश-देशान्तरों में घूम घूम कर साधु ही लोगों के हृदयों में धर्म की जागृति किया करते हैं। राजसभाओं में भी साधु ही प्रवेश करके, धर्मबीज बोने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे साधु वृक्षों से या आकाश से नहीं उतरते। गृहस्थों में से ही ऐसे व्यक्ति निकलते हैं और वे साधु बनकर शासन की उन्नति करते हैं। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब जो गृहस्थ अपने को सुशिक्षित समझते हैं, और प्रायः इस तरह के आक्षेप

करके-कि, 'साधु कुछ भी धर्महित का कार्य नहीं करते हैं; श्रावकों को उचित उपदेश नहीं देते हैं; अपने को शासनहितैषी होने का दावा करते हैं वे साधुत्व ग्रहण करके क्यों नहीं समाज या धर्म की उन्नति के कार्य में लगते हैं ? क्यों नहीं वे स्वयं साधु बनकर आधुनिक साधुओं के लिए आदर्श बनते हैं ? यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, जमाना काम करके बताने का है, बातें बनाने का नहीं । करना कुछ नहीं और बड़ी बड़ी बातें बनाना या दूसरों पर आक्षेप करना, केवल धृष्टता है । लाखों खंडी बोलनेवाले की अपेक्षा पैसे भर कार्य करनेवाले का प्रभाव विशेष होता है । इस नियम को हमेशा याद रखना चाहिए । यद्यपि हम यह मानते हैं कि, वर्तमान साधुओं द्वारा जितना कार्य हो रहा है उतने ही में हमें सन्तोष करके बैठ नहीं जाना जाहिए । वर्तमान समय के अनुसार कार्य करनेवाले तेजस्वी साधुओं की विशेष आवश्यकता है । इस बात को हम मानते हैं । कारण शास्त्रकार कहते हैं कि, - 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा ।' जो कार्य करने में वीरता दिखाते हैं वे ही धर्म भी वीरता के साथ पाल सकते हैं । इसलिए शासनोन्नतिकी आशा को यदि विशेष फलवती करना हो तो ऐसे योग्य साधु पैदा करने चाहिए । साधु वर्ग को भी इस विषय पर विचार करना चाहिए ।

अकबर के पास एक जैताशाह नाम का नागौरी गृहस्थ रहता था । बादशाह की उस पर पूर्ण कृपा थी । जब हीरविजयसूरि बादशाह के पास से रवाना होने लगे तब जैता ने प्रार्थना की कि, यदि आप दो तीन महीने तक यहाँ और ठहरें तो मैं आपके पास दीक्षा लूँ ।"

सूरिजी के लिए यह बात विचारणीय थी । जैताशाह के तुल्य बादशाह के कृपापात्र और प्रतिष्ठित मनुष्य को दीक्षा देने का लाभ कुछ कम न था; मगर गुजरात की ओर प्रयाण करना भी जरूरी था ।

सूरिजी बड़े विचार में पड़े । थानसिंह ने जैताशाह से कहा :- "जब तक बादशाह की आज्ञा न मिलेगी तुम दीक्षा नहीं ले सकोगे ।" तत्पश्चात् उसने (थानसिंह) और मानुकल्याण ने बादशाह से जाकर अर्ज की, - "जैतानागौरी हीरविजयसूरिजी के पास दीक्षा लेना चाहता है । मगर आपकी आज्ञा के बिना यह काम नहीं होगा ।"

बादशाह ने जैताशाह को बुलाया और कहा :- "तू साधु क्यों होना चाहता है ? अगर तुझे किसी तरह का दुःख हो तो मैं उसको मिटाने के लिए तैयार हूँ । गाँव, जागीर, धन-दौलत जो कुछ चाहिए मांग । मैं दूँगा ।"

जैताशाह ने उत्तर दिया :- "आपकी कृपा से मेरे पास सब कुछ है । मुझे किसी गाँव, जागीर या धन-दौलत की चाह नहीं है । मेरे स्त्री-पुत्र भी नहीं हैं । मैं आत्मकल्याण करना चाहता हूँ । इसलिए साधु बनने की इच्छा है । कृपा करके प्रसन्नतापूर्वक मुझे साधु होने की आज्ञा दीजिए ।"

जैताशाह को अपने विचारों में दृढ़ देखकर बादशाह ने उसको दीक्षा लेने की आज्ञा दी । तब थानसिंह ने कहा :- "सूरिजी महाराज तो चले जाते हैं फिर इसको दीक्षा कौन देगा ?"

बादशाह बोला :- "जाओ सूरिजी महाराज को मेरी ओर से प्रार्थना करो कि, जहाँ धर्मोन्नति का लाभ हो वहाँ साधुओं को रहना ही चाहिए । जैताशाह आपके पास दीक्षा ग्रहण करन चाहता है, अतः कृपा करके आप थोड़े दिन ठहर जाइए ।"

सुतरां सूरिजी को ठहरना ही पड़ा । जैताशाह की दीक्षा के लिए उत्सव प्रारंभ हुआ । बादशाह की अनुमति से धूमधाम के साथ जैताशाह को सूरिजी ने दीक्षा दी । उसका नाम जीतविजयजी रखा गया । ये जीतविजयजी 'बादशाही यति' के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

जेताशाह के समान प्रसिद्ध और बादशाह के कृपापात्र मनुष्य के दीक्षा लेने से जैन धर्म की कितनी प्रभावना हुई होगी, इसका अंदाजा सहज ही में लगाया जा सकता है।

आचार्य हीरविजयसूरिजी के उपदेश में ऐसा असर था कि उससे कइ बार तो कुटुंब के कुटुंब दीक्षा ले लेते थे।

सूरिजी जब सीरोही में थे तब उन्हें एक बार ऐसा स्वप्न आया कि, - हाथी के चार बच्चे सूंड में पुस्तक पकड़कर पढ़ रहे हैं। इस स्वप्न विचार करने से उन्हें विदित हुआ कि, चार उत्तम शिष्य मिलेंगे। कुछ ही दिनों में उनका स्वप्न सच्चा हुआ। रोह<sup>१</sup> के सुप्रसिद्ध श्रीवंत सेठ और उनके कुटुंब के मनुष्यों ने सूरिजी के पास दीक्षा ली। उनमें चार उनके पुत्र (धारो, मेघो, कुंवरजी (कलो) और अजो) पुत्री, बहिन, बहनोई, भानजा और स्त्री लालबाई (इसका दूसरा नाम शिणगारदे था) इन दसों के नाम दीक्षा के बाद निम्न प्रकार से रखे गये छे।

- |  |                       |                      |                      |                             |                     |                       |                     |                              |                         |
|--|-----------------------|----------------------|----------------------|-----------------------------|---------------------|-----------------------|---------------------|------------------------------|-------------------------|
| १ - श्रीवंत शेठ का नाम (क्या रखा गया मालूम नहीं हुआ) | २ - लालबाई का लाभश्री | ३ - धारो का अमृतविजय | ४ - मेघो का मेरुविजय | ५ - कुंवरजी का विजयानंदसूरि | ६ - अजो का अमृतविजय | ७ - पुत्री का सहजश्री | ८ - बहिन का रंगश्री | ९ - बहनोई का शार्दूलत्रृष्णि | १० - भानजे का भक्तिविजय |
|--|-----------------------|----------------------|----------------------|-----------------------------|---------------------|-----------------------|---------------------|------------------------------|-------------------------|

इस तरह सारे कुटुंब का दीक्षा लेना आश्वर्य में नहीं डालेगा? उपर्युक्त दीक्षा ग्रहण करनेवाले व्यक्तियों में कुंवरजी विशेष प्रसिद्ध हुआ था। कुंवरजी पीछे से विजयानंदसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

१. आबू से लगभग १२ माइल पर, दक्षिण दिशा में यह ग्राम है। आर. एम. आर. रेल्वे का वहाँ स्टेशन भी है। स्टेशन का नाम भी 'रोह' ही है।

सीरोही में वरसिंह नाम का एक गृहस्थ रहता था। वह बहुत बड़ा धनी था। पूर्ण युवावस्था होने से उस समय उसके ब्याह की तैयारीयाँ हो रही थी। ब्याह मँड चुका था। जवारे बो दिये थे। नित्य मंगलगान होने लगे थे। सुबो शाम नगरे बजते थे। जीमन के लिए मिष्टान्न तैयार होने लग रहा था। इस तरह ब्याह के सब सामान तैयार हो गये थे। फेरे फिरने में कुठ ही दिन बाकी रहे थे।

वरसिंह एक धार्मिक मनुष्य था। हमेशा उपाश्रय में जाता और धार्मिक क्रियाएँ करता था। लग्न का दिन निकट आ जाने और आनंद उत्सव होने पर भी वह अपनी धर्मक्रियाओं को छोड़ता न था।

एक दिन वरसिंह उपाश्रय में बैठा हुआ, सिर पर कपड़ा ओढ़कर सामायिक कर रहा था। उसका मुँह कपड़े से ढका हुआ था। वह इस तरह बैठा हुआ था कि उसे कोई पहिचान न सकता था। उपाश्रय में साधुओं को वंदना करने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष आते थे और वे साधुओं के साथ ही वरसिंह को भी वंदना कर जाते थे। वरसिंह की भावी पत्नी भी आई और अन्यान्य स्त्री-पुरुषों की भाँति उसको बाँद गई। उसके पास में बैठा हुआ एक गृहस्थ हँसा और बोला :- "वरसिंह! अब तू ब्याह नहीं कर सकेगा; क्योंकि तेरी स्त्री अभी ही तुझे साधु समझकर वंदन कर गई है और वंदना के द्वारा यह सूचना दे गई है कि, - 'अब भी चेत जाओ' अतः तुझे अब ब्याह नहीं करना चाहिए।"

वरसिंह ने उत्तर दिया :- "बंधु, मैं तुम्हारी बात को मानता हूँ। मैं ऐसा ही करूँगा जिससे वह (मेरी होनेवाली पत्नी) और अन्यान्य स्त्री-पुरुष हमेशा ही वंदना किया करें।"

घर आकर उसने कहा कि, 'मुझे अब ब्याह नहीं करना है।' उसका सारा कुटुंब जमा हुआ। उसको अनेक तरह से समझाने लगा;

दीक्षा नहीं लेने के लिए विवश करने लगा । मगर उसने किसीकी बात न मानी और कहा :- “यदि तुम मुझे दीक्षा नहीं लेने दोगे तो मैं आत्मघात करूँगा ।” वरसिंह अन्न-जल छोड़कर घर में बैठ गया । माता-पिता ने हारकर उसको दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी । विवाहोत्सव के लिए जो तैयारियाँ हुई थी उनका उपयोग दीक्षा के लिए किया गया । वरसिंह ने उत्सव के साथ दीक्षा ली ।

माता-पिता, ख्री-पुत्रादि के क्षणिक मोह में लुब्ध हो जानेवाले, दीक्षा ग्रहण करने के अभिलाषी करज़ोर हृदयवालों को उक्त घटना से सबक सीखना चाहिए । केवल अजान में लोगों द्वारा वंदन कर जाने पर वास्तविक वंद्य बनने के लिए सर्वस्व का त्याग कर देना, क्या कम मनोबल है ?

यही वरसिंह धीरे धीरे पंचास हुए । और इनके एकसौ और आठ शिष्य भी हुए ।

इसके अलावा संघजी नाम के एक सदगृहस्थ ने पाठन में दीक्षा ली थी, वह घटना भी उल्लेखनीय है ।

संघजी पाठन में एक धनिक व्यक्ति था । उसके यहाँ धनवैभव की कमी नहीं थी । उसके कुटुंब में सुशीला पत्नी और पुत्री के सिवा और कोई नहीं था । उसकी आयु जब बत्तीस बरस की हुई, तब उसके हृदय में सूरिजी का उपदेश सुनकर दीक्षा लेने की भावना उत्पन्न हुई । वह रोज सूरिजी का उपदेश सुनने के लिए जाता था । एक बार वह उपदेश सुनकर वापिस घर आया और अपनी ख्री को बत्तीस हजार महर्मूदि का देकर बोला :- “इनको लो और मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा दो ।” उसकी पत्नी भी धर्मपरायणा थी । उसने उत्तर दिया :- “मैं तुम्हें दीक्षा लेने से नहीं रोकती; मगर लड़की छोटी है इसलिए प्रार्थना है कि, इसका व्याह करने के बाद आप दीक्षा लें ।”

संघजी ने उत्तर दिया :- “उसके व्याह का भार क्या मेरे ही उपर है ? यदि मैं नहीं होऊँगा तो क्या व्याह नहीं होगा ? काम किसीके बिना नहीं अटकता । प्रत्येक का कार्य उसके पुण्य प्रताप से होता ही रहता है । यदि इस समय मेरे आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो जाय तो फिर क्या हो ? क्या उसका व्याह हुए बिना रह जाय ?”

पति का दृढ़ निश्चय देखकर पत्नी ने अनुमति दे दी । उसके बाद उत्सव के साथ शुभ मुहूर्त में संघजी ने दौलतखाँ<sup>१</sup> की बाड़ में - बागीचे में सूरिजी के प्राप्त दीक्षा ले ली ।

इस तरह सूरिजी ने अनेक भव्यात्माओं को दीक्षा दी; उनका उद्धार किया और उन्हें जैन धर्म का सच्चा उपदेशक बनया । अगर कवि ऋषभदास के शब्दों में कहें तो :-

सिष्य दिष्णीआ एकसो नि साठ, साधइ हीर मुगतिनी बाट;  
एक सो साठि पंडित पद दीध, साति उवज्ज्ञाय गुरु हीरि कीध ।

पृ. २२१

इससे मालूम होता है कि, सूरिजी ने एक सौ साठ आदमियों को दीक्षा दी थी; और एक सौ साठ साधुओं को पंडित पद दिया था और सातको उपाध्याय के पद से विभूषित किया था ।

१. यह दौलतखाँ, ऐसा जान पड़ता है कि, खंभात के राय कल्याण का नौकर था । इसके लिए जो विशेष जानना चाहें वे मीराते एहमदी (गुजराती अनुवाद) का १४८ वाँ पृष्ठ देखें ।

## शिष्य-परिवार

### प्रकरण नवाँ ।

### शिष्य-परिवार ।

यह बात निर्विवाद है कि, पुण्य की प्रबलता के बिना अधिकार नहीं मिलता । एक ही माता की कूख से दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, मगर पुण्य की प्रबलता और हीनता के कारण एक को हजारों-लाखों मनुष्य मानते हैं; उसके वचनों को, ईश्वरीय वाक्य समझकर लोग मस्तक पर चढ़ाते हैं और उसकी कलम से लिख गये शब्दों की सत्यता को संसार स्वीकार करता है और दूसरे को कोई पूछता भी नहीं है । हजारों मनुष्य सम्मान प्राप्त करने के लिए जीतोड़ परिश्रम करते हैं; परन्तु उन्हें सम्मान नहीं मिलता; हजारों घुटने टेककर प्रतिष्ठित बनने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, मगर उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती । इसका कारण ? कारण पुण्य की कमी ही है । एक बात और भी है । किसी भी चीज की अभिलाषा उस वस्तु की प्राप्ति में बाधक होती है ।

### अनमाँगे मोती मिलें, माँगी मिले न भीख ।

यह लोकोक्ति सत्य से ओतप्रोत भरी है । जो नहीं माँगता है, उसको हरेक चीज़ अनायास ही मिल जाती है । निःस्पृह और निरीह मनुष्यों को पदार्थ अनायास ही मिल जाते हैं । अपने चरित्र के प्रथम उद्धार सूरिजी कितने निःस्पृह थे सो उनके जीवन की जो घटनाएँ अब तक कही गई हैं उनसे भली प्रकार मालूम हो चुका है । उनकी निःस्पृहता के कारण ही वे जहाँ जाते थे वहाँ सम्मान पाते थे और इच्छित कार्य समाप्त कर सकते थे । इतना ही नहीं उन्हें अचिन्तित शिष्य-संपदा भी आ मिलती थी । इसी से वे धीरे धीरे दो हजार साधुओं के अधिकारी-आचार्य हो गये थे ।

यहाँ यह बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि, किसी भी 'पद' के प्राप्त करने में इतनी कठिनता नहीं है, जितनी उस 'पद' का 'ऊपरी'

पन का उत्तरदायित्व समझने में है । आचार्य श्री हीरविजयसूरि आचार्य हुए गच्छनायक हुए और दो हजार जैनसाधुओं व लाखों जैन गृहस्थों के नेता हुए, उससे वे जितने प्रशंसा के पात्र हैं उससे भी विशेष प्रशंसा के पात्र इसलिए हैं कि उन्होंने अपने 'पद' का उत्तरदायित्व समझकर युक्ति पुरस्सर विशाल-भाव से उन्होंने समुदाय की सँभाल रखी थी और शासन के हितार्थ अनेक कठिनाइयाँ झेली थीं ।

सदा से चला आया है उस तरह हीरविजयसूरि के समय में भी कई क्लेशप्रिय और संकुचित हृदय के मनुष्य, झूठे-सच्चे कारण खड़े कर समाज में क्लेश उत्पन्न करते थे । कई सम्मान के भूखे और प्रतिष्ठा के पूजारी मनुष्य अपनी इच्छा तृप्त करने के लिए समाज में फूट डालते थे और कई ईर्ष्यालु हृदयी दूसरे की कीर्ति न सह सकने से अनिष्ट उपद्रव खड़े करते थे । ऐसे मौकों पर सूरिजी जल्दबाजी, दुराग्रह और छिछोरापन न कर इस तरह से काम लेते थे कि, जिसका परिणाम उत्तम ही होता था । कई बार सूरिजी की कृति उनके अनुयायियों को भी ठीक नहीं जँचती थी, मगर पीछे से जब वे उसका शुभ परिणाम देखते थे तब उन्हें इस बात की सत्यता पर विश्वास होता था कि, - 'महात्माओं के हृदय सागर का किसीको भीपता नहीं लगता है ।' ऐसे प्रसंगों को दबा देने का सूरिजी को जितना खयाल रखना पड़ता था उतना ही, बल्के उससे भी ज्यादा खयाल उन्हें इस बात का रखना पड़ता था कि, समाज में एक का छूत दूसरों को न लग जाय । जब कोई ऐसी बात उपस्थित होती थी तब सूरिजी गंभीरता पूर्वक उस पर विचार करते थे और उसके बाद कोई मार्ग ग्रहण करते थे । सूरिजी को ऐसे अनेक प्रसंगों का मुकाबिला करना पड़ा था । हम उनमें से एक दो का यहाँ उल्लेख करते हैं ।

हीरविजयसूरि जब अकबर बादशाह के पास थे तब उनकी अनुपस्थिति में द्वेषी लोगों ने गुजरात में अनेक उपद्रव खड़े किये थे ।

खंभात के रायकल्याण<sup>१</sup> ने कई जैनों से अमुक कारण को सामने कर बाहर हजार रुपयों का खत लिखवा लिया था और कइयों के सिर मुँडवा डाले थे। कइयों ने, प्राणभय से इस उपद्रव में जैन धर्म का भी त्याग कर दिया था। इस उपद्रव से सारे गुजरात में हाहाकार मच गया। दूसरी तरफ पाटन में विजयसेनसूरि के साथ खरतरगच्छवालों ने शास्त्रार्थ करना प्रारंभ किया था<sup>२</sup>।

ये सारी बातें हीरविजयसूरिजी को लिखी गई। सूरिजी उस समय गुजरात से बहुत दूर थे। वे सहसा न तो गुजरात में ही पहुँच सकते थे और न उनके पत्रही से यह विग्रह शान्त हो सकता था। क्योंकि विग्रहकर्ता उनके अनुयायी नहीं थे, दूसरे थे। इसलिए सूरिजी के लिए यह बात बड़ी विचारणीय हो गई थी कि, विग्रह कैसे शान्त किया जाय? उनको रह रह कर यह भी खयाल आ रहा था कि यदि इस समय उचित प्रबंध न होगा तो भविष्य में अन्य भी इस तरह के हमले करते रहेंगे। इसलिए कोई ऐसा दृढ़ उपाय करना चाहिए कि, जिससे सदा के लिए शान्ति हो जाय। फिर कोई हमला करने का साहस न करे।

१. यह राज्याधिकार्यों में से एक था। खंभात ही का रहनेवाला वैश्य था। इसके विषय में विशेष जानने के लिए 'अकबरनामा' के तीसरे भाग के अंग्रेजी अनुवाद का ६८३ वाँ तथा 'बदाउनी' के दूसरे भाग के अंग्रेजी अनुवाद का २४९ वाँ पृष्ठ देखना चाहिए।

२. यह उस समय का शास्त्रार्थ है कि, जब विजयसेनसूरि ने पाटन में चौमासा किया था। इस शास्त्रार्थ में खरतरगच्छवाले निरुत्तर हो गये थे। उसके बाद उन्होंने रायकल्याण का आश्रय लेकर अहमदाबाद में फिर से शास्त्रार्थ शुरू किया था। अहमदाबाद का यह शास्त्रार्थ वहाँ के सुबेदार खानखाना की सभा में हुआ था। वहाँ भी कल्याणराय और खरतरगच्छ के अनुयायियों को विजयसेनसूरि के शिष्यों से निरुत्तर होना पड़ा था। इस विषय में विशेष जानना हो तो 'विजयप्रशस्ति काव्य' के दसवें सर्ग का १ से १० वाँ श्लोक पढ़ना चाहिए।

उसका एक ही उपाय उन्हें सूझा और वह यह कि, बादशाह को कहलाकर उससे कोई प्रबंध करवाना। सूरिजी उस समय अभिरामाबाद में थे।

वे अभिरामाबाद से फतेहपुर आये। वहाँ उन्होंने जैनियों की एक सभा बुलाई। उसमें इस बात पर विचार किया गया कि गुजरात के उपद्रव का क्या उपया किया जाय? उस सभा में यह प्रस्ताव पास किया गया कि, अमीपाल दोशी बादशाह के पास भेजा जाय। बादशाह उस समय नीलाब<sup>३</sup> नदी के किनारे था। शान्तिचंद्रजी और भानुचंद्रजी भी वहीं थे। अमीपाल ने जाकर पहिले सारी बात शान्तिचंद्रजी से कही। तत्पश्चात् उन्होंने भानुचंद्रजी को बुलाया। उन्हें भी सारी बातें कही गई। उन दोनों ने जाकर वे बातें अबुलफ़ज्जल से कहीं। उनकी सलाह से अमीपाल दोशी बादशाह के पास गया और नजराना करके खड़ा रहा। बादशाह ने सूरिजी के कुशल समाचार पूछे। शेख अबुलफ़ज्जल ने बादशाह से कहा:- “गुजरात में हीरविजयसूरि के जो शिष्य हैं उन्हें बहुत तकलीफ हो रही है, इसलिए उनको तकलीफ से छुड़ाने का कोई प्रबंध करना चाहिए।” फिर उसने गुजरात की सारी घटना सुनाई। सुनकर बादशाह ने अहमदाबाद के सुबेदार मिर्जाखान को पत्र लिखा और उसमें लिखा कि, जो हीरविजयसूरि के शिष्यों को कष्ट पहुँचाते हों उन्हें तत्काल ही दंड दो।

पत्र अहमदाबाद के श्रावकों के पास आया। उन्होंने बीपुशाह को यह पत्र लेकर खानसाहेब के पास जाने के लिए कहा। उसने सलाह दी

१. नीलाब, सिंधु या अटक नदी का दूसरा नाम है। पंजाब की दूसरी पाँच नदियों की अपेक्षा यह नदी बड़ी है। देखो 'आईन-इ-अकबरी' (एच. एस. जैरिट कृत अंग्रेजी अनुवाद) के दूसरे भाग का ३२५ वाँ पृष्ठ। वि. सं. १६४२ (ई. स. १५८६) की यह बात है। अकबर उस समय अटक पर था। यह बात 'अकबरनामा' से भी सिद्ध होती है। देखो 'अकबरनामा' तीसरे भाग के अंग्रेजी अनुवाद का पृष्ठ ७०९-७१५.

कि, - “यथासाध्य प्रयत्न करके आपस में झगड़ा मिटा लेना ही अच्छा है। राज्यधिकारीयों से दूर रहने में ही अपना भला है। कल्याणराय के पास विठ्ठल नामका कार्यकर्ता है। वह बहुत ही बदमाश और खटपटी है उसका चलेगा तब तक वह हमें दंड दिलाये बिना नहीं रहेगा।”

यह बात लोगों को ठीक न लगी। जीवा और सामल नाम के दो नागौरी श्रावकों ने कहा कि, “हम लोग मिर्जाखान से मिलने और बादशाह का पत्र उसे देने जाने को तैयार हैं। मगर हमें अपना पक्ष समर्थन के लिए प्रमाण भी जुटा रखने चाहिए। इसके लिए हमारी यह सलाह है कि, खंभात में जिन लोगों के सिर मुँडवाये गये हैं, वे यहाँ बुला लिये जायँ।”

खंभात से अन्याय-दंडित लोग बुलाये गये। जब वे आ गये तब उन्हें ले कर दोनों नागौरी सज्जन खान के पास गये। खान के हाथ में बादशाह का पत्र दिया गया। पत्र पढ़कर उसने सादर उन्हें बिठाया और पूछा : - “मेरे लायक जो काम हो सो कहिए।” उन्होंने खंभात में जो घटना हुई थी, सो सुनाई और कहा कि, इस तरह रायकल्याण के मारे हमें अपना धर्म पालना भी कठिन हो रहा है। इसलिए इसका प्रबंध होना चाहिए।

मिर्जाखाँ ने उसी समय रायकल्याण को पकड़ लाने का हुक्म दिया। विठ्ठल वहीं था। वह पकड़ा गया। सारे गाँव में फिराया गया और तीन दर्वाजे के पास बाँधकर दंडित किया गया। रायकल्याण को पकड़ने के लिये दोसौ घुड़सवार खंभात भेजे गये। यह खबर सुनकर रायकल्याण वहाँ से भागकर अहमदाबाद सूबेदार के पास आया। खाँने उसको बहुत बुरा भला कहा और साधुओं से क्षमा माँगने की सूचना दी। राय ने जाकर साधुओं से माफी माँगी और उनकी पद्धतिली मस्तक पर चढ़ाई। उसने जुल्म से बारह हजार का जो खत लिखा लिया था वह

रद किया गया और जिन्होंने भय के मारे जैन धर्म को छोड़ दिया था वे भी पुनः जैनी हो गये।

वसीला क्या काम नहीं कर सकता है? हजारों ही नहीं बल्के लाखों रुपये खर्च करने पर भी जो काम नहीं होता है वह वसीले से हो जाता है। इसीलिए तो शासनशुभैषी, धर्मधुरुंधर पूर्वाचार्य मानापमान की पर्वाह किये बिना राज दरबार में प्रवेश करते थे और रुके हुए धर्म के कार्य को अनायास ही पूर्ण करा लेते थे। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं।

एक बार सूरिजी खंभात में थे तब अहमदाबाद में विमलहर्ष उपाध्याय के साथ भद्रुआ<sup>१</sup> नामक श्रावक का किसी कारण से विवाद हो गया। विवाद में भद्रुआ ने ऐसी ऐसी बातें उपाध्यायजी को कहीं की, जिनका कहना श्रावकों के लिए सर्वथा अनुचित था। उपाध्यायजी ने यह बात सूरिजी को लिखी। सूरिजी को यह पढ़कर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने सोचा कि, इसी तरह यदि गृहस्थ अपनी मर्यादा का त्याग करेंगे, तो परिणाम यह होगा कि, साधु और श्रावकों के बीच में एक गंभीर मर्यादा है वह न रहेगी। अतः इस अनुचित स्वाधीनता पर अंकुश रखना चाहिए।

यह सोचकर उन्होंने अहमदाबादस्थ साधुओं को एक पत्र इस अभिप्राय का लिखने के लिए सोमविजयजी को कहा कि, - भद्रुआ श्रावक को संघ बहार निकाल दिया गया था। पं. दर्शनविजयजी ने यह बात अपने बनाये हुए ‘विजयतिलकसूरिरास’ में भी लिखी है। ऐतिहासिक रास संग्रह ४ थे भाग का २३ वां पृष्ठ देखो।

१. भद्रुआ हीरविजयसूरि के भक्त श्रावकों में से एक था। मगर वह अमुक समय के लिए धर्मसागरजी के पक्ष में मिल गया था। जान पड़ता है कि, इसीलिए विमलहर्ष उपाध्याय के साथ कुछ विवाद हो गया होगा। भद्रुआ श्रावक संघ बहार निकाल दिया गया था। पं. दर्शनविजयजी ने यह बात अपने बनाये हुए ‘विजयतिलकसूरिरास’ में भी लिखी है। ऐतिहासिक रास संग्रह ४ थे भाग का २३ वां पृष्ठ देखो।

जब पत्र रवाना किया जाने लगा तब विजयसेनसूरि ने हीरविजयसूरि से प्रार्थना कि, पत्र यदि अभी न भेजा जाय तो अच्छा हो; परन्तु सूरिजी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। पत्र भेज दिया। पत्र पाकर अहमदाबाद में साधुओं ने भदुआ को संघ बाहर कर दिया और उसके घर गोचरी-पानी जाना छोड़ दिया। अहमदाबाद का संघ इससे बहुत चिन्तित हुआ।

इसमें तो किसीको शंका नहीं थी कि, भदुआ ने साधुओं के अपमान का महान् अपराध किया था। साधुओं ने भदुआ को दंड आचार्यश्री की आज्ञा से दिया था, इसलिए श्रावक साधुओं को कुछ कह भी नहीं सकते थे। इसलिए भदुआ को वापिस संघ में लेने के लिए आचार्य महाराज से क्षमा माँगने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। बहुत कुछ सलाह-मशवरा करने के बाद संघ भदुआ को लेकर खंभात गया। वहाँ संघ ने और भदुआ ने बड़ी ही नप्रता के साथ सूरिजी से क्षमा माँगी। सूरिजी ने, बिना आग्रह भदुआ को क्षमा करके, वापिस संघ में ले लिया।

संघ की भलाई के लिए, शासन-मर्यादा को भंग न होने देने के लिए बड़ों को अपनी सत्ता का उपयोग करना चाहिए, यह बात जितनी उचित है उन्हीं ही उचित यह भी है कि, अपना कार्य सफल हो जाने के बाद दुराग्रह न करके अपनी सत्ता के दौर को बंद कर देना चाहिए। इससे विपरीत चलना बुरा है। सूरिजी संपूर्णतया इस नियमन का पालन करते थे। उनकी कृतियों से यह बात भली प्रकार सिद्ध होती है।

अहमदाबाद का संघ वापिस अहमदाबाद आया। वहाँ आकर भदुआ ने विमलहर्षजी के पास से क्षमा माँगी; मन में किसी तरह का ईर्ष्याभाव न रखा।

इसके अलावा सुप्रसिद्ध उपाध्याय धर्मसागरजी जो महान् विद्वान् थे और जिनके रोमरोम में शासन के प्रेम प्रवाहित हो रहा था - के अमुक

ग्रंथों के लिए जैनसंघ में उस समय बड़ी गड़बड़ी मची हुई थी। मगर सूरिजी ने हर तरह से धर्मसागरजी को समझाकर उन्हे संघ से माफी माँगने के लिए बाध्य किया। उन्होंने क्षमा माँगी। इस गंभीर मामले को उन्होंने ऐसी युक्ति से सुधारा था और उसको ऐसे सँभाल रखा था कि, सब तरह शान्ति ही रही और उनकी अनुपस्थिति में जैसा बुरा परिणाम हुआ वैसा उनकी उपस्थिति में नहीं हुआ।

बड़ों को बड़ी चिन्ता। सारे समुदाय की रक्षा का कार्य कुछ छोटा नहीं है। बड़ों को कितने धैर्य और कितनी दूरदर्शिता से कार्य करना चाहिए, इस बात को सूरिजी भली प्रकार जानते थे। इसी से उस समय के सारे समुदाय पर उनका प्रभाव पड़ता था।

यह पहिले कहा जा चुका है कि, हीरविजयसूरि लगभग दो हजार साधुओं के अधिकारी थे। इन साधुओं में कई व्याख्यानी थे, कई कवि थे, कई वैयाकरण थे, कई नैयायक थे, कई तार्किक थे, कई तपस्वी थे, कई योगी थे, कई अवधानी थे, कई स्वाध्यायी थे और कई क्रियाकांडी थे। इस तरह भिन्न भिन्न साधु भिन्न विषयों में दक्ष थे। और इसी से वे अन्यान्य लोगों पर प्रभाव डाल सकते थे। सूरिजी की आज्ञानुसार चलनेवालों में से खास ये थे। -

१-विजयसेनसूरि, जब इनके कार्यों का विचार करते हैं तब हम यह कहे बिना नहीं रह सकते हैं कि, इनको गुरु को अनेक गुण विरासत में मिले थे। संक्षेप में ही हम यह कह देना चाहते हैं कि, वे हीरविजयसूरिजी की तरह प्रतापी थे। छठे प्रकरण से हमारे इस कथन को पुष्टि मिलती है। उन्होंने अपनी विद्वत्ता से बादशाह पर अच्छा प्रभाव डाला था। वे नाड़लाई (मारवाड़) के रहनेवाले थे। उनकी वंशावली देखने से मालूम होता है कि, वे राजा देवढ़ की पैतीसवीं पीढ़ी में हुए थे। उनका नाम जयसिंह था। उनके माता-पिता का नाम क्रमशः

कोडिमदे और कमाशाह था। वि.सं. १६०४ के फाल्गुन सुदी १५ को उनका जन्म हुआ था।

वे जब सात वर्ष के थे तब उनके पिताने और नौ बरस के हुए तब यानी वि.सं. १६१३ ज्येष्ठ सुदी ११ के दिन उन्होंने अपनी माता के साथ सूरत में विजयदानसूरिजी के पास दीक्षा ली थी। विजयदानसूरि ने उन्हें दीक्षा देकर तत्काल ही, हीरविजयसूरि के आधीन कर दिया था। योग्य होने पर सं. १६२६ में खंभात में उन्हें 'पंडित' पद, सं. १६२८ के फाल्गुन सुदी ७ के दिन अहमदाबाद में 'उपाध्याय' पद और 'आचार्य' पद मिला था। (उस समय मूला सेठ और वीपा पारेखने उत्सव किया था) सं. १६३० के पौष कृष्ण ४ को उनकी पाटस्थापना हुई थी। उनकी योग्यता का यह ज्वलंत उदाहरण है कि, उन्होंने योगशास्त्र के प्रथम श्लोक के सातसौ अर्थ किये थे। कहा जाता है कि, उन्होंने काशी, गंधार, चाँपानेर, अहमदाबाद और पाटन आदि स्थानों में लगभग चार लाख जिनबिंबों की अपने हाथों से प्रतिष्ठा की थी। उनके उपदेश से तारंगा, शंखेश्वर, सिद्धाचल, पंचासर, राणपुर, आरासर और वीजापुर आदि के मंदिरों के उद्घार भी हुे थे। उनके समुदाय में ८ उपाध्याय, १५० पंडित और दूसरे बहुत से सामान्य साधु थे।

वे जैसे विद्वान् थे वैसे ही वादी भी थे। उनकी वाद करने की अपूर्व शक्ति का यह प्रमाण है कि, उन्होंने अकबर के दरबार में ब्राह्मण पंडितों को और सूरत में भूषण<sup>१</sup> नामक दिगम्बराचार्य को शास्त्रार्थ में निरुत्तर किया था।

१. वि.सं. १६३२ के वैशाख सुदी १३ के दिन जयवंत नामक गृहस्थ के किये हुए उत्सवपूर्वक चाँपानेर में प्रतिष्ठा करके सूरिजी सूरत में आये थे। सूरिजी ने वह चौमासा सूरत ही में किया था। चौमासा उत्तरने के बाद चिन्तामणि मिश्र आदि पंडितों की मध्यस्थता में यह शास्त्रार्थ हुआ था। देखो - 'विजयप्रशस्ति महाकाव्य' सर्ग ८ वां श्लोक ४२-४९।

उनकी त्यागवृत्ति और निःस्पृहता भी ऐसी ही प्रशंसनीय थी। ६८ वर्ष की आयु पूर्णकर सं. १६७२ के ज्येष्ठ वद ११ के दिन खंभात के पास बसे हुए अकबरपुर<sup>२</sup> में उन्होंने शरीर छोड़ा था। उनका स्तूप बनवाने के लिए जहाँगीर बादशाह ने दश बीघे जमीन मुफ्त में दी थी। और तीन दीन तक पाखी पाली थी (बजार आदि बंद रखाये थे।) उनका जहाँ अग्निसंस्कार हुआ था वहाँ खंभात निवासी सोमजीशाह ने स्तूप कराय था।<sup>३</sup>

१. अकबरपुर खंभात के पास एक परा है। कवि ऋषभदास की बनाई हुई और उसीके हाथ से लिखी हुई 'चैत्यपरिपाटी' को देखने से मालूम होता है कि, उस समय वहाँ तीन मंदिर थे। १-वासुपुञ्जजी का, २-शान्तिनाथजी का (उसमें इक्कीस जिनबिंब थे) और ३-आदीश्वर का उसमें बीस प्रतिमाएँ थीं। काल के प्रभाव से आज उस स्थान पर एक भी मंदिर या प्रतिमा नहीं है।

२. सोमजी शाह ने जो स्तूप बनवाया था उस का अकबरपुर में कुछ भी नहीं है। मगर खंभात के भोंयराबाड़े में शान्तिनाथ का मंदिर है। उसके मूल गभार में - जहाँ प्रतिमा स्थापित होती है उस स्थान में - बायें हाथ की तरफ एक पादुकावाला पत्थर है। उसके लेख से ज्ञात होता है कि, यह वही पादुका है जो सोमजी शाह ने विजयसेनसूरिजी के स्तूप पर स्थापित की थी। काल के प्रभाव से अकबरपुर की स्थिति खराब हो जाने पर यह पादुकावाला पत्थर यहाँ लाया गया होगा। इस लेख से भिन्न लिखित बातें मालूम होती हैं। "वि.सं. १६७२ के माघ सुदी १३ रविवार के दिन सोमजी ने अपने तथा अपने कुटुंबियों के बहिन धर्माई, स्त्रियाँ सहजलदे और बयजलदे, पुत्र सूरजी और रामजी आदि के कल्याणार्थ, विजयसूरि की यह पादुका उनके शिष्य विजयदेवसूरि से स्थापित कराई। सोमजी, खंभात निवासी वृद्ध-शाखीय ओसवाल शाह जगसी का पुत्र था। उसकी माता, काका और काकी के नाम क्रमशः तेजलदे, श्रीमल्ल और मीहणदे थे। लेख में लिखे हुए - 'पादुकाः प्रीतुंगस्तूपसहिताः कारिताः' इन शब्दों से यह भी सिद्ध होता है कि, यह पादुका एक ऊँचे स्तूप के साथ स्थापन की गई थी। पूर्ण लेख इस प्रकार है-

॥ ६० संवत् १६७२ वर्षे माघसितत्रयोदश्यां रवौ वृद्ध-शाखीय। संभतीर्थनगरवास्तव्य उसवालज्ञातीय सा, श्रीमल्ल भार्या मोहणदे लघुभ्रातृ सा।

२-शान्तिचंद्रजी उपाध्याय, इनके गुरु का नाम सकलचंद्रजी था। उन्होंने ईंडर के राजा रायनारायण<sup>१</sup> की सभा में वादीभूषण नाम के दिंगंबराचार्य को परास्त कर जय पाई थी। यह बात उन्होंके शिष्य अमरचंद कवि ने कुलध्वजरास-जो सं. १६७८ के वैशाखसुदि ३ रविवार के दिन बनाया गया है - की प्रशस्ति में लिखी है।

उन्होंने संस्कृत भाषा में ऋषभदेव और वीरप्रभु की स्तुति बनाई है। वह स्तुति उन छंदों में बनाई गई है जिनका प्रयोग 'अजितशान्तिस्तव' में किया गया है। उन्होंने सं. १६५१ में जंबूद्वीपपत्रिका की टीका भी बनाई है। वे कैसे प्रभावशाली थे सो तो अकबर बादशाह से उन्होंने जो कार्य कराये थे उन्होंसे विदित हो जाता है।<sup>२</sup>

जगसी भार्या तेजलदे सुत सा. सोमा नाम्ना भगिनी धर्माई भार्या सहजलदे वयजलदे सुत. सा. सुरजी स(रा)मजी प्रमुखकुटुंबयुतेन स्वश्रेयसे श्रीअकब्बरसुरत्राणदत्तबहुमानभद्रारक श्रीहीरविजयसूरिपट्टपूर्वचलतटा-सहस्रकिरणानुकारकाणां। ऐदंयुगीनराधिपतिचक्रवर्तिसमान श्रीअकब्बर-छत्रपतिप्रधानपर्वदि प्राप्तप्रभूतभद्राचार्यादिवादिवंदजयवादलक्ष्मीधारकाणां। सकलसुविहितभद्रारकपरंपरापुरंदराणां। भद्रारकश्रीविजयसेनसूरिश्वराणां पादुकाः प्रोत्तुंगस्तूपसहिताः कारिताः प्रतिष्ठापिताश्च महामहःपुरःसरं प्रतिष्ठिताश्च श्रीतपागच्छे। भ. श्रीविजयसेनसूरिपट्टालंकारहासौभाग्यादिगुणगणाधारसुविहितसूरिशंगा-रभद्रारकश्रीविजयदेवसूरिभिः।

लेखके संक्षेप से स्पष्ट विदित होता है कि, इस पादुका की स्थापना उसी साल हुई है जिस साल विजयसेनसूरि का देहावसान हुआ था।

१. यह वही राजा है कि, जिसका नाम अकबरनामा के तीसरे भाग के अंग्रेजी अनुवाद के पृ. ५९ वें में और आईन-इ-अकबरी के पहले भाग के ब्लॉकमेनकृत अंग्रेजी अनुवाद के पृ. ४३३ में आया है। यह राजा राठोड राजपूत था। और दूसरे नारायण के नाम से पहिचाना जाता था।

२. पृ. १४४ से १४७ तक देखें।

३-भानुचंद्रजी उपाध्याय; ये भी उस समय के प्रभाविक पुरुषों में से एक थे। उनकी जन्मभूमि सिद्धपुर थी। उनके पिता का नाम रामजी और माता का रमादे था। उनका गृहस्थावस्था का नाम भाणजी था। वे सात वर्ष की आयु में स्कूल भेजे गये थे। दस वर्ष की आयुमें तो वे अच्छे होशियार हो गये थे। उनके बड़े भाई का नाम रंगजी था। सूरचंद्रजी<sup>३</sup> पंचास का सहवास होने पर उन दोनों भाईयों ने दीक्षा ली थी। अनेक ग्रंथों का अभ्यास करने के बाद उनको पंडित पद मिला था। हीरविजयसूरि ने उन्हें योग्य समझकर अकबर बादशाह के पास रक्खा था। अकबर भी उनके उपदेशों से बहुत प्रसन्न हुआ था। उसी प्रसन्नता के कारण उसने उनके उपदेशों से अनेक अच्छे अच्छे कार्य किये थे। उन कार्यों का वर्णन छठे प्रकरण में किया जा चुकार है।

अकबर का देहान्त हो गया, उसके बाद भानुचंद्रजी फिर से आगे रहे थे। वहाँ उन्होंने जहाँगीर से परवानों का - जो अकबर ने दिये थे - अमल कायम रखने के लिए हुक्म लिया था। अकबर की तरह जहाँगीर की भी भानुचंद्रजी पर बहुत श्रद्धा थी। जब वह माँडवगढ़ में था तब मनुष्य भेजकर उसने भानुचंद्रजी को अपने पास लुलाया था। वहाँ उसने अपने लड़के शहरयार को भानुचंद्रजी के पास पढ़ने बिठाया था। भानुचंद्रजी जब माँडवगढ़ में गये तब जहाँगीर ने कहा :-

१. ये वेही सूरचंद्रजी पंचास हैं कि, जिन्होंने धर्मसागरजी उपाध्याय के बनाये हुए 'उत्सूत्रकंदकुद्वाल' नामक ग्रंथ को आचार्य विजयदानसूरिजी की आज्ञा से पानी में डुबा दिया था (देखो एतिहासिक राससंग्रह भा. ४ था पृ. १३).

२. देखो पृ. १४७-१५४

“मिल्या भूपैँ, भूप आनंद पाया,”  
 भलैँ तुै मे भैलैँ औहीं भाणचंद्र आया;  
 तुम पासिथिं<sup>१</sup> मोहि सुख बहूत होवैँ,  
 सहरिआर भणवा तुम बाट जोर्वैँ । १३०९  
 पढ़ावो अहीं पूतकुं धर्मवात्,  
 जिड<sup>२</sup> अवल सुणता तुँह्य पासि तात;  
 भाणचंद ! कदीम<sup>३</sup> तुै मे हो हमारे,  
 सैंबही थकी तुह्यहो हैँमहि प्यारे । १३१०

भानुचंद्रजी जब बुरहानपुर गये थे तब उनके उपदेश से वहाँ दश मंदिर बने थे । मालपुर में<sup>४</sup> उन्होंने ‘बीजामतियों’ से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया था । यहाँ भी उनके उपदेश से एक भव्य मंदिर बना था, स्वर्णकलश चढ़ाया गया था । प्रतिष्ठा भी उन्होंने ही कराई थी । जब वे मारवाड़-अन्तरगत जालौर में गये थे तब उन्होंने एक साथ इक्कीस आदमियों को दीक्षा दी थी । कवि ऋषभदास लिखता है कि, उनके सब मिलाकर ८० विद्वान् शिष्य और १३ पन्न्यास थे ।

४-पद्मसागर; ये अच्छे वादी थे । प्रसंग प्राप्त होने पर शास्त्रार्थ करके दूसरों को परास्त करने में वे अच्छे कुशल थे । सीरोही के राजा के सामने नरसिंह भट्ट को उन्होंने बातों ही बातों में निरुत्तर कर दिया था । वह घटना इस तर हुई थी, -

१. राजा से; २-श्रेष्ठ; ३-तुम; ४-अच्छा हुआ; ५-यहाँ; ६-तुमसे ७-होता है; ८-देखता है; ९-मेरे; १०-जैसे; ११-तुमसे; १२-तुम हो; १३-सबसे; १४-मुझे ।

१५. यह गाँव जयपुर रियासत में अजमेर से लगभग पचास माइल पूर्व में है ।

एक बार पद्मसागरजी ने यज्ञ में भी पशुहिंसा का निषेध किया था । उस समय वहाँ कई व्याख्यान सुननेवाले ब्राह्मण बैठे थे । उनमें से एक बोला :— “हम बकरे को अपनी इच्छा से नहीं मारते हैं । वह चिल्काकर हमसे कहता है कि, हे मनुष्यो ! मुझे जल्दी मारकर स्वर्ग पहुँचाओ जिससे मैं इस पशुयोनि से छुटकारा पाऊँ ।”

पद्मसागरजी ने इस युक्तिवाद का उत्तर देते हुए कहा :— “पंडितप्रवर ! आप ऐसी कल्पना न करें । यह स्वार्थमय कल्पना है । पशु तो चिल्काकर कहता है कि, ‘हे सज्जनो ! मैं न तो स्वर्ग की इच्छा रखता हूँ और न मैंने मुझे स्वर्ग पहुँचाने की तुमसे प्रार्थना ही की है । मैं तो हमेशा तृण भक्षण करने ही में संतुष्ट हूँ । अगर यह सच है कि, यज्ञ में जितने जीव होमे जाते हैं वे सभी स्वर्ग में जाते हैं तब तुम अपने माता-पिता, पुत्र-भार्या आदि कुटुंबियों को क्यों नहीं सबसे पहिले यज्ञ में होमते हो ? ताकी वे अति शीघ्र स्वर्गलाभ करें ।’ सज्जनो ! स्वार्थमय युक्तियाँ व्यर्थ हैं । इनसे कोई लाभ नहीं । वास्तविकता का विचार करना चाहिए । जैसे हमको लेशमात्र भी दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही दूसरे जीवों को भी दुःख अच्छा नहीं लगता है । इसलिए किसी जीव को, किसी भी निमित्त से मारना अनुचित है ।”

पद्मसागरजी की उपर्युक्त युक्ति से सब चुप हो गये । उसी समय कर्मसी नाम के भंडारी ने एक प्रश्न किया । उसने मूर्तिपूजा की अनावश्यकता बताते हुए कहा, -

“किसी स्त्री का पति परदेश गया । पीछे से वह स्त्री पति की मूर्ति बनाकर पूजा करती रही; परन्तु उस मूर्ति ने पति के तुल्य कोई लाभ नहीं पहुँचाया । इसी तरह भगवान् की मूर्ति पूजना भी व्यर्थ है ।”

पद्मसागरजी ने उत्तर दिया :— “मैं कोई दूसरा उदाहरण तूँ इसके पहिले तुम्हारे ही दिये हुए उदाहरण पर जरा विचार करो । मैं यह मान लेता

हूँ कि, पति की मूर्ति को पूजने से स्त्रियों कोई लाभ नहीं पहुँचा । मगर यह तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा कि, जब जब वह स्त्री अपने पति की मूर्ति देखती होगी तब तब उसे अपने पति का और पति के गुणावगुण का स्मरण हुआ ही होगा । इससे तुम क्या यह स्वीकार न करोगे कि, पति का और उसके गुणावगुण का स्मरण करने में पति-मूर्ति स्त्रीके लिए उपयोगी हुई ? मूर्ति का कितना माहात्म्य है इसके लिए मै एक दृष्टांत और देता हूँ ।

किसी आदमी के दो स्त्रियाँ थीं । एक बार वह परदेश गया तब उसकी दोनों स्त्रियों ने पति की भिन्न २ मूर्तियाँ स्थापित कीं । एक स्त्री रोज उठकर अपने पति-मूर्ति की पूजा करती थी और दूसरी हमेशा उठकर पति-मूर्ति पर थूकती थी । जब पुरुष आया और उसे अपनी स्त्रियों के व्यवहारों की बात मालूम हुई तब उसने अपनी मूर्ति की पूजा करनेवाली को बड़े प्रेम से व आदर से रक्खा और थूकने व ठुकरानेवाली को अनादर और धृणा के साथ । इससे सहजही में यह बात समझ में आ जाती है कि, मूर्ति से कितना असर होता है ?<sup>१</sup>

पद्मसागरजी ने अनेक युक्तियों द्वारा मूर्ति और मूर्तिपूजा की आवश्यकता को सिद्ध कर दिया । इससे सारी सभा बहुत प्रसन्न हुई और पद्मसागरजी के बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करने लगी ।

इसी तरह पद्मसागरजी ने 'केवली आहार लेते हैं या नहीं और स्त्री को मुक्ति होती है या नहीं' इस विषय में दिगंबर पंडितों के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें निरुत्तर किया था ।

पद्मसागरजी जैसे तार्किक थे वैसे ही विद्वान् भी थे । उन्होंने अनेक ग्रंथ भी रचे हैं । उनमें से मुख्य ये हैं - 'उत्तराध्ययनकथा' (सं. १६५७) 'यशोधरचरित्र' 'युक्तिप्रकाश-सटीक' 'नय प्रकाश-सटीक' (सं. १६३३)

<sup>१</sup>. मूर्ति और मूर्ति-पूजा के विषय में विशेष जानने के लिए देखो पृष्ठ १८५-१८७

'प्रमाणप्रकाश-सटीक' 'जगद्गुरुकाव्य' 'शीलप्रकाश' 'धर्मपरीक्षा' और 'तिलकमंजरीकथा' (पद्य) आदि ।

५-कल्याणविजयवाचक; इनका जन्म लालपुर में वि.सं. १६०१ के आसोज व. ५ को हुआ था । सं. १६१६ के वैशाख व. २ के दिन महेसाने में उन्होंने हीरविजयसूरि के पास से दीक्षा ग्रहण की थी । सं. १६२४ के फागण वद ७ के दिन उन्हें पंडित पद मिला था । वे जैसे विद्वान् थे वैसे ही व्याख्यानी और तार्किक भी थे । उनका चरित्र बड़ा निर्मल था । इससे श्रोताओं पर उनके व्याख्यान का बड़ा प्रभाव पड़ता था ।

एक बार राजपीपला में राजा वच्छ<sup>२</sup> तिवाड़ी के आमंत्रण से छः हजार ब्राह्मण पंडित जमा हुए थे । राजा उदार मनवाला था । उसने ब्रह्मण विद्वानों की इस विराट् सभा में कल्याणविजयजी को भी बुलाया और पंडितों के साथ वाद करने के लिए कहा । राजा मध्यस्थ बना । वाद प्रारंभ हुआ । ब्राह्मण पंडितों ने हरि (ईश्वर) ब्राह्मण और शैवधर्म इन तीन तत्त्वों की स्थापना की । अर्थात् - "हरि ईश्वर है । वह जगत का कर्ता, हर्ता व पालनकर्ता है । ब्राह्मण सच्चे गुरु हैं और शैवधर्म ही सच्चा धर्म है ।" कल्याणविजयजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा :- "जो ईश्वर है वह कदापि जगत का कर्ता, हर्ता या पालक नहीं हो सकता है । क्योंकि वह ईश्वर उसी समय बनता है जब वह समस्त कर्मों को नष्ट कर संसार से

१. यह राजपीपला का राजा था । जाति का ब्रह्मण था । (देखो-आईन-इ-अकबरी के दूसरे भाग के अंग्रेजी अनुवाद का २५१ वाँ पृष्ठ) वच्छ उसका नाम था । और 'तिवाड़ी' उसकी अटक (Surname) थी । अकबरनामा के अंग्रेजी अनुवाद तीसरे भाग के ६०८ वें पृष्ठ में लिखा गया है कि, तीसरा मुजफ्फर, जो गुजरात का अंतिम बादशाह था, फतेहपुर सीकरी से भागकर राजपीपला के राजा तरबारी (तिवाड़ी) के पास गया था । मीराते सिकंदरी के गुजराती अनुवाद में जो आत्मरामजी पोतीरामजी दीवानजी का किया हुआ है - 'तरबारी' को एक 'स्थान' बताने की भूल की है । देखो पृष्ठ ४५८ । इसी तरह की भूल मीराते-अहमदी के गुजराती अनुवाद में भी - जो पठान निजामखाँ नूरखाँ का किया हुआ है - हुई है । देखो पृष्ठ १३८ ।

सर्वथा मुक्त हो जाता है। संसार-मुक्त ईश्वर को ऐसी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है कि, जिससे वह दुनिया के प्रपञ्च में पड़े। और यह एक कुदरती बात है कि मतलब के बिना किसी की भी प्रवृत्ति, किसी कार्य में नहीं होती है। कहा है कि -

**'प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्तते ।'**

अतएव ईश्वर कर्ता, हर्ता या पालक कदापि नहीं गिना जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर अपनी इच्छा से सृष्टि को बनाता है। क्योंकि इच्छा उसीको होती है जो राग-द्वेष-युक्त होता है। रागद्वेष का परिणाम ही इच्छा है। और ईश्वर तो वही माना जाता है कि, जो रागद्वेष से सर्वथा मुक्त होता है। अगर ईश्वर भी रागद्वेषयुक्त मान लिया जायगा तो फिर उसमें और हममें अन्तर ही क्या रह जायगा? दूसरी बात यह है कि, जगत् में जितनी वस्तुएँ हैं उन सबको शरीरधारी ने बनाया है। अगर यह मान लिया जाय कि, सृष्टि ईश्वर ने बनाई है तो, ईश्वर शरीरी प्रमाणित होगा। जब ईश्वर शरीरी होगा तो वह कर्ममल से लिस माना जायगा। मगर ईश्वर के कर्मों का सर्वथा अभाव है इसलिए यह युक्ति भी ठीक नहीं है। संसार में ऐसे पापी जीव भी देखे जाते हैं कि, जो दूसरे जीवों का संहार करते हैं। परम दयालु परमेश्वर ऐसे पापी जीवों को उत्पन्न करके क्या अपनी दयालुता को कलंकित करेगा? किसीका जवान २० बरस का पुत्र मर जाता है, क्या यह कहोगे कि, उसका ईश्वर ने हरण कर लिया? अगर ईश्वर ने वास्तव में उसको उठा लिया है तो फिर उसकी दयालुता किस काम की है?

अतएव चारों तरफ़ से विचार करने पर यह भली प्रकार से निश्चित हो जाता है कि, ईश्वर ने न इस संसार को बनाया है न वह इसका संहार या पालन ही करता है।

इस प्रकार ईश्वर के कर्ता, हर्ता और पालनकर्ता के संबंध में उत्तर देने के बाद उन्होंने ब्राह्मणों के स्थापन किये हुए गुरुत्व के संबंध में इस प्रकार उत्तर दिया :- "बेशक ब्राह्मण गुरु हो सकते हैं। कहा भी है कि, 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' ब्राह्मण समस्त वर्णों का गुरु है। मगर वे ब्राह्मण शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, शास्त्रों के पारगामी, ब्रह्मचर्य को पानेवाले, अहिंसा के उपासक, कभी जूठ नहीं बोलनेवाले, बगेर पूछे किसीकी चीज न लेनेवाले और सन्तोषवृत्ति के धारक होने चाहिए। इन गुणों के धारक ब्राह्मण ही गुरु होने या कहलाने का दावा कर सकते हैं। गुण बिना के, गुरु, गुरु नहीं कहला सकते हैं। इसी तरह शैवधर्म को धर्म मानने से किसीको इन्कार नहीं है अगर उसमें कल्याण का मार्ग हो और अहिंसा का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया हो। धर्म की परीक्षा चार तरह से होती है। श्रुत (शास्त्र) शील (आचार) तप और दया से। जिसमें इन चारों बातों की उत्कृष्टता हो, वही धर्म हरेक के मानने लायक है। वह धर्म चाहे किसी भी नाम से पहचाना जाता हो। अमुक धर्म ही को मानना चाहिए, अमुक गुरु ही को मानना और अमुक को नहीं मानना चाहिए, हमने माना उस स्वरूपवाला ईश्वर ही सच्चा है दूसरा नहीं, यह वृत्ति संकुचित है।"

कल्याणविजय वाचक की ये और इसी तरह की दूसरी अनेक युक्तियाँ सुनकर बच्छराज बहुत प्रसन्न हुआ। उसने जैन धर्म की बहुत प्रशंसा की। वह कल्याणविजयजी को उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण देने लगा। उन्होंने अस्वीकार कर उसे साधु धर्म समझाया, जिससे वह इस बात को समझ गया कि, साधुओं के लिए इन चीजों का ग्रहण करना मना है। वह साधुओं के त्याग धर्म से और भी विशेष प्रसन्न हुआ और उन्हें बड़ी धूमधाम से उपाश्रय पहुँचाया।

**कल्याणविजयजी** वाचक ने वि.सं. १६५६ का चौमासा सूरत में किया था। उस समय धर्मसागरजी के अनुयायियों और हीरविजयसूरि के अनुयायियों में बहुत विवाद चल रहा था। इस विवाद में यद्यपि वाचकजी को भी बहुत कुछ सहन करना पड़ा था, तथापि उन्होंने बहुत ही समयसूचकता से काम लिया था, और आचार्य विजयसेनसूरि को सारी बातें लिखकर अपराधी को दंड दिलाया था।<sup>१</sup>

उपर्युक्त मुख्य मुख्य साधुओं के सिवा, सिद्धिचंद्रजी, नंदिविजयजी, सोमविजयजी, धर्मसागर उपाध्याय, प्रीतिविजयजी, तेजविजयजी, आनंदविजयजी, विनीतविजयजी, धर्मविजयजी और हेमविजयजी आदि भी धुरंधर साधु थे। वे हमेशा स्व-पर कल्याण ही में लगे रहते थे। उनके आदर्श जीवन का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता था। ऋषभदास कवि हीरविजयसूरि रास में सूरजी के मुख्य मुख्य साधुओं के नाम गिनाकर अन्त में लिखता है-

हीरना गुणनो नहि पारो, साध साधवी अढी हजारो ।

विमलहर्ष सरीखा उवज्ञाय, सोमविजय सरिखा त्रश्चिराय ॥ १ ॥

शान्तिचंद्र परमुख वली सातो, वाचक पदे एह विख्यातो ।

सिंहविमल सरिखा पन्न्यासो, देवविमल पंडित ते खासो ॥ २ ॥

धर्मशीत्रश्चि सबली लाजो, हेमविजय मोटो कविराजो ।

जससागर वली परमुख खास, एकसो ने साठह पन्न्यासा ॥ ३ ॥

हीरविजयसूरजी की आज्ञा को सर्वतो भाव से माननेवाला केवल साधुवर्ग ही नहीं था बल्कि सैकड़ों और हजारों श्रावकों का समूह बंगाल और मदरास के सिवा समस्त भारत के प्रायः गामों में था। उनकी हीरविजयसूरि पर अनन्य श्रद्धा थी। किसी भी कार्य में हीरविजयसूरि

१. इस विषय में जिनको विशेष जानना हो वे ऐतिहासिक राससंग्रह भा. ४ था (विजयतिलकसूरिस) देखें।

की आज्ञा मिलने पर वे हजारों ही नहीं बल्कि लाखों रुपये आनंद से खर्च कर देते थे।

सूरजी की सूचना मिलने पर शंका के लिए स्थान नहीं रहता था। श्रावकों को जिस तरह इस बात का पूर्ण विश्वास था कि, हीरविजयसूरजी हमें निरर्थक कामों में पैसा खर्च करने का उपदेश नहीं देंगे; उसी तरह सूरजी भी इस बात को पूर्णतया समझते थे कि, जिस धन को गृहस्थ लोही का पानी बनाकर और अनेक तरह के पापों का सेवन कर संग्रह करते हैं; उस धन को बेमतलब अपने स्वार्थ के लिए खर्च कराना नीति का भंग करना ही नहीं है बल्कि विश्वासघात करना है। इसी हेतु से सूरजी की हर जगह प्रशंसा होती थी। उनके मुख्य श्रावकों में से कुछ के यहाँ दिये जाते हैं।

गंधार में इन्द्रजी पोरवाल सूरजी का परम भक्त था। ग्यारह बरस की आयु में उसके हृदय में दीक्षा लेने की भावना उत्पन्न हुई थी। मगर उसके भाई नाथा को उससे बहुत प्रेम था। इसीलिए उसने उसको दीक्षा नहीं लेने दी थी। यद्यपि उसका भाई उसको ब्याह देना चाहता था; परंतु इन्द्रजी ने ब्याह न किया। वह याक्जीवन बाल-ब्रह्मचारी ही रहा।

इन्द्रजी एक धनी मनुष्य था। अपनी आयु में उसने छत्तीस प्रतिष्ठाएँ कराई थीं। इसी गंधार का रहनेवाला रामजी श्रीमाली भी सूरजी का परम भक्त था उसने सिद्धाचलजी पर सूरजी के उपदेश से एक विशाल और सुंदर मंदिर बँधवाया था<sup>२</sup>। खंभात में संघवी सोमकरण, संघवी

२. यह मंदिर सिद्धाचलजी पर आदीश्वर भगवान के मंदिर की परिक्रमा के ईशान कोन में है। चौमुखजी के मंदिर के नाम से पहिचाना जाता है। इसके अंदर के लेख से मालूम होता है कि, वि.सं. १६२० के कार्तिक सुद २ के दिन इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। और हीरविजयसूरि के उपदेश से गंधारनिवासी श्रीमाली ज्ञातीय पासवीर के पुत्र वर्धमान और उसके पुत्र सा. रामजी, लहुजी, हंसराज और मनजी ने चार द्वारवाला यह शान्तिनाथ का मंदिर बनवाया था।

उदयकरण<sup>१</sup> सोनी तेजपाल, राजा श्रीमल, ठकर जयराज, जसवील, ठकर लाइया, ठकर कीका, वाघा, ठकर कुँवरजी, शाह धर्मशी, शाह लक्ष्मी, दोसी हीरो, श्रीमल, सोमचंद और गाँधी कुंअरजी वगैरह मुख्य थे<sup>२</sup>। इसी खंभात के रहनेवाले राजिया और वजिया सूरिजी के परम भक्त थे। इन्होंने सूरिजी के उपदेश से अनेक समयोचित कार्य किये थे। यद्यपि वे खंभात के रहनेवाले थे; परन्तु रहा करते थे प्रायः गोवा ही में। गोवा में उनका व्यापार बहुत अच्छा चलता था। इतना ही नहीं वहाँ राजदरबार में भी उनका अच्छा प्रभाव था। इन्होंने पाँच तो बड़े बड़े मंदिर बनवाये

१. यह हीरविजयसूरि का परम श्रद्धालु श्रावक था। उसने सूरिजी के स्वर्गवास के बाद तत्काल उनके (सूरिजी) पगलों की सिद्धाचलजी पर स्थापना की थी। यह पादुका अब भी ऋषभदेव भगवान के मंदिर के पश्चिम में एक छोटे से मंदिर में मौजूद है। उस पर के लेख से मालूम होता कि, सूरिजी का स्वर्गवास उहा उसी वर्ष में यानी सं. १६५२ के मिगसर वद २ और सोमवार के दिन उदयकरण ने विजयसेनसूरि के हाथ से, महोपाध्याय कल्याणविजय और पंडित धनविजयजी की विद्यमानता में प्रतिष्ठा कराई थी। लेख के अन्तिम भाग में सूरिजी ने अकबर को प्रतिबोध देकर जो कार्य कराये थे उनका संक्षिप्त वर्णन है। संघवी उदयकरण खंभात का प्रसिद्ध श्रावक था। कवि ऋषभदास ने हीरविजयसूरिसास में स्थान स्थान पर उसका नामोलेख किया है।

२. ऋषभदास कवि ने वि.सं. १६८५ के पौष शुक्ल १३ रविवार के दिन खंभात ही में 'मल्लीनाथरास' बनाया है। उसके अन्त में खंभात के मुख्य श्रावकों का परिचय दिया है। उसका भाव यह है, -

"श्रावक वजिया और राजिया की कीर्ति सारे संसार में हो रही है। उसने साढ़े तीन लाख रुपये पुण्यार्थ खर्च किये और गाँव गाँव में अहिंसाधर्म का पालन कराया ॥२२॥ त्रिवावती निवासी तेजपाल ओसवाल ने शत्रुंजय पर उद्धार कराया उसमें उसने दो लाख ल्याहरी खर्च किये ॥२८३॥ संघवी सोमकरण और उदयकरण ने, राजा श्रीमल ओसवाल ने, ठकर जसराज और जसवीर ने और ठकर कीका वाघा ने प्रत्येक ने आध लाख रुपये पुण्य कार्य में खर्चे ।"

थे। उनमें से एक खंभात में है। उसमें चिन्तामणिपार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापन कराई थी। तीसरा<sup>३</sup> नेजा में है। उसमें ऋषभदेव की प्रतिमा की स्थापना कराई थी। दो मंदिर बरडोला में बनवाकर उनमें करेडापार्श्वनाथ और नेमिनाथ की मूर्ति की स्थापना कराई थी। इन्होंने संघवी बनकर

१. राजिया और वजिया का बनवाया हुआ चिन्तामणिपार्श्वनाथ का यह मंदिर अब भी मौजूद है। इस मंदिर के रंगमंडप की एक भौति में एक पत्थर पर २८ पंक्तियों का एक लेख है। उसमें ६१ श्लोकों में एक प्रशस्ति दी गई है। प्रशस्ति पूर्ण होने के बाद अन्तिम दो पंक्तियों में यह लिखा है -

" ॥६०॥ ३० नमः ॥ श्रीमद्विक्रमनृपातीत सं. १६४४ वर्षे प्रवर्तमानशाके १५०९ गंधारीय प. जसिआ तद्वार्या वाई जसमादे संप्रतिश्रीसंभृतीर्थवास्तव्य तत्पुत्र प. वजिआ प. राजिआभ्यां वृद्धभ्रातृभार्या विमलादे लघुभ्रातृभार्या कमलादे वृद्धभ्रातृपुत्रमेघजी तद्वार्या मयगलादे प्रमुख । निजपरिवारयुताभ्यां । श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथश्रीमहावीरप्रतिष्ठा कारिता श्री चिन्तामणिपार्श्वचैत्यं च कारितं कृता च प्रतिष्ठा सकलमंडलाखंडलशाहिश्रीअकब्बरसन्मानित श्रीहीरविजयसूरीशपट्टालंकारहारसदृशैः शाहिश्रीअकब्बरपर्वदि प्राप्तवर्णवादैः श्रीविजयसेनसूरिभिः ।

इस लेख से मालूम होता है कि, वि.सं. १६४४ में राजिया और वजिया ने मंदिर बनवाकर उसमें चिन्तामणि पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी की प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठा श्रीविजयसेनसूरि ने की थी। इस लेख में केवल प्रतिष्ठा का संवृत् लिखा गया है। मिति या वार नहीं लिखे गये। मगर इस लेख में जिस मूर्ति को स्थापन करने का वर्णन है उस मूर्ति (चिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति) पर के लेख में प्रतिष्ठा की तिथि सं. १६४४ का जेठ सुद १२ सोमवार दी गई है। इसी प्रकार 'विजयप्रशस्तिकाव्य' और 'हीरविजयसूरिसास' में भी यही तिथि दी गई है। ऊपर जो लेख दिया गया है उससे यह भी मालूम होता है कि, राजिआ और वजिआ मूल गंधार के रहनेवाले थे, मगर मंदिर हुआ उस समय वे खंभात में रहते थे।

२. नेजा यह छोटा सा गाँव, खंभात से लगभग ढाई माइल उत्तर में है। वर्तमान में न तो गाँव में कोई मंदिर है और न किसी श्रावक का घर ही। गाँव भी लगभग बस्ती बिना ही का है। वहाँ केवल एक सरकारी बगीचा है।

आबू राणपुर और गोडीपार्श्वनाथ की यात्रा के लिए संघ निकाले थे । इन दोनों का इतना मान था कि, अकबर बादशाह ने भी इनका कर माफ कर दिया था । जीव दया के कार्यों में भी दोनों भाई हमेशा अगुआ रहते थे । उन्होंने सरकार से यह आज्ञा प्राप्त की थी की, घोघला में कोई मनुष्य जीवहिंसा न करे । सन् १६६१ में जब भयंकर दुष्काल पड़ा था, तब उन्होंने चार हजार मन अनाज खर्च कर अनेक कुटुंबों को मरने से बचाया था । अपने नौकरों को गाँव गाँव भेजकर उनके द्वारा अनेक दरिद्रों की धन देकर रक्षा की थी ।

कहा जाता है कि, एक बार चित्तल के एक खोजगी को और दूसरे कई आदमियों को गोवा के फिरंगी (पोर्टुगीज) लोगों ने कैद कर लिया था । फिरंगियों का स्वामी उन्हें किसी भी तरह से छोड़ता न था । अखिरकार वह एक लाख ल्याहरी दंड लेकर छोड़ने को राजी हुआ । मगर यह दंड आवे कहाँ से । अन्त में खोजगी ने राजिया, वजिया का नाम बताया । राजिया फिरंगियों के स्वामी विजरेल (वॉयसराय) के पास गया, एक लाख ल्याहरी देकर खोजगी को छुड़ा लाया । और उसको कई दिन तक अपने यहाँ रखने पर चित्तल पहुँचा दिया । पीछे से खोजगी ने एक लाख ल्याहरी वापिस राजिया को दे दी ।

एक बार उपर्युक्त खोजगी ने बाईस चोरों को कैद किया था । जब वह उन्हें मारने लगा तब उन्होंने कहा :— “आप बड़े आदमी हैं । हमारे ऊपर दया कीजिये । और आज राजिया सेठ का बड़े त्योहार का (भादवासुद २) का दिन भी है ।”

‘राजिया के त्योहार का दिन है ।’ यह सुनते ही उसने चोरों को मारना तो दूर रहा, सर्वथा मुक्त ही कर दिया और कहा कि, वे मेरे मित्र हैं, इतना ही नहीं वे मेरे जीवनदाता भी हैं । उनके नाम से मैं जितना करूँ उतना ही थोड़ा है ।

१. यह गाँव दीब बंदर से लगभग दो माइल दूर है ।

राजिया और वजिया की तारीफ में पं. शीलविजयजी ने अपनी तीर्थयात्रा में जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है, — “श्रावक वजिया और राजिया बड़े प्रतापी हुए । उन्होंने बड़े बड़े पाँच मंदिर कराकर उनमें प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराई । उनकी दुकान गोआ बंदर में है । उस पर स्वर्ण का कलश सुशोभित होता है । उनकी बात किसीने नहीं टाली । फिरंगीयों के स्वामी ने भी उनके सामने सिर झुकाया ।”

हीरविजयसूरि के श्रावक ऐसे ही उदार और शासनप्रेमी थे । इसी तरह राजनगर में वच्छराज, नाना वीपु, जौहरी कुँअरजी, शाह मूलो, पूँजो बंगाणी और दोशी पनजी आदि थे । वीसलनगर (वीसनगर) में शाह बाघो, दोशी गला, मेघा, वीरपाल, वीजा और जिनदास आदि थे । सीरोही में आसपाल, सचवीर, तेजा, हरखा, म्हेता पूँजो और तेजपाल आदि थे । वैराट में संघवी भारमल और इन्द्रराज<sup>१</sup> आदि थे । पीपाड़ में हेमराज, तालो पुष्करणो आदि थे । अलवर में शाह भैरव<sup>२</sup> था । जेसलमेर

१. हीरविजयसूरि जब अकबर के पास से रवाना होकर गुजरात में आते थे तब पीपाड़ नगर में सूरिजी की बंदना करने के लिए वैराट के संघवी भारमल का पुत्र इन्द्रराज आया था । उसने सूरिजी से अपने नगर में चलने की साप्रह विनती की थी । मगर सूरिजी को शीघ्र ही सीरोही जाना था इसलिए स्वयं न जाकर उन्होंने कल्याणविजयजी उपाध्याय को भेज दिया । इन्द्रराज ने चालीस हजार रुपये खर्च कर बड़ी धामधूम के साथ कल्याणविजयजी से प्रतिष्ठा कराई थी ।

२. भैरव हुमायुँ का मानीता मंत्री था । कहा जाता है कि, उसने अपने पुरुषार्थ से नौ लाख बंदियों को छुड़वाया था । बंदियों से यहाँ अभिप्राय कैदियों से नहीं है । युद्ध में जो लोग पकड़े जाते थे वे बंदी कहलाते थे । उन बंदियों को मुसलमान बादशाह गुलाम की तरह खुरासान या दूसरे देशों में बेच देते थे । ऐसे नौ लाख बंदियों को भैरव ने छुड़ाकर अभयदान दिया था । कवि ऋषभदास ने ‘हीरविजयसूरिसास’ में उसका उल्लेख किया है । उस घटना का संक्षिप्त सार यह है, —

“हुमायुँ ने जब सोरठ पर चढ़ाई की तब उसने नौ लाख मनुष्यों को बंदी बनाया था । उसने उन लोगों को मुकीम के सिपुर्द किया और उन्हें खुरासान में बेच

में भाँडण कोठारी, नागौर में जयमल महेता और जालोर में मेहाजल रहता था। वह वीसा पोरवाल था। उसने लाख रुपये खर्चकर आने की उसको आज्ञा की। ये सब लोग पहले अलवर में लाये गये। वहाँ के महाजनों ने उन्हें छोड़ देने की प्रार्थना की; परन्तु वे छोड़े न गये। उनमें से दस-बीस मनुष्य सदैव रक्षकों की बेपरवाही से मरते रहते थे। भैरव को यह बात अत्यंत दुखःदाई मालूम हुई। वह हुमायूँ का मानीता मंत्री था। ऐसी अवस्था में भी यदि वह कुछ न करता तो फिर उसकी दयालुता और सन्मान क्या काम के थे? सबरे के बक्त बादशाह जब दातन करने बैठा तब उसने अपनी अंगूठी भैरव के हाथ में दी। भैरव ने एक कोरे कागज पर अंगूठी की मुहर लगा ली। जब वह बादशाह के पास से आया तब एकान्त में बैठकर उसने धूजते हाथों उस कागज पर फर्मान लिखा। इस फर्मान को लेकर वह मुकीम के पास गया। आप रथ में बैठा रहा और अपने एक नौकर को फर्मान लेकर मुकीम के पास भेजा। फर्मान में लिखा था, - “तत्काल ही नौ लाख बंदियों को भैरव के हवाले कर देना।” बादशाह की मुहर-छाप का फर्मान देखकर मुकीम ने भैरव को अपने पास बुलाया; उसका सत्कार किया और बंदियों को उसके आधीन कर दिया। बंदी लौटी, पुरुष, बालक-बूढ़े सभी भैरव को अन्तःकरणपूर्वक आशीर्वाद देने लगे। भैरव ने उसी रात उन सब को रवाना कर दिया और खर्चे के लिये एक एक स्वर्ण मुद्रा सभी को दी। उनमें से पाँचसौ मुखियों को एक एक घोड़ा भी, उसने सवारी के लिए दिया।

सबरे ही भैरव देवपूजा, गुरुवंदनादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो, एक विचित्र वाघा पहिन बादशाह के पास गया। बादशाह सहसा उसे न पहचान सका। उसने पूछा : - “तुम कौन हो?” भैरव ने कहा : - “मैं आपका दास भैरव हूँ। आज मैंने हुजूर का बहुत बड़ा गुनाह किया है। मैंने उन नौ लाख कैदियों को छुड़ा दिया है और बहुत सा धन भी खर्चा है।” बादशाह यह सुनकर क्रुद्ध हुआ और उसने “किसलिए ऐसा किया? किसकी आज्ञा से किया?” आदि कई बातें कह डाली। भैरव आहिस्तणी के साथ बोला : - “हुजूर के सिर एक आपत्ति है, इसलिए मैंने सब बंदियों को घोड़े और धन देकर रवाना करा दिया है। वे बैचारे अपने बालबच्चों और सगेसंबंधियों से जुदा हो गये थे। मैंने उनकी जुदाई मेटकर दुआएँ ली है और खुदाबंद की उम्र दराज-बड़ी आयु की है।” इस युक्ति से बादशाह शान्त ही नहीं होगया बल्के भैरव से प्रसन्न भी हुआ।

चौमुखजीका मंदिर बनवाया था। आगरे में थानसिंह<sup>१</sup>, मानुकल्याण और दुर्जनशाल<sup>२</sup> था। फीरोजनगर में अकु संघवी था वह बहुत पुण्यशाली था। छियानवे बरस की आयु हो जाने पर भी उसकी इन्द्रियाँ अच्छी हालत में थीं। उसकी मौजूदगी में उसके घर में इकानवे पुरुष पगड़ी बाँधते थे। उसने कई पौषधशालाएँ और जिनप्रासाद बनवाये थे। वह केवल धनी

१. इसने फतेहपुर में उत्सवपूर्वक सूरिजी के हाथ से जिनबिब की प्रतिष्ठा करवाई थी। शान्तिचंद्रजी को उसी समय उपाध्याय पद दिया गया था। इसी तरह उसने आगरे में भी चिन्तामणिपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाकर उसमें प्रतिष्ठा करवाई थी। यह मंदिर अब भी आगरे के रोशन मुहल्ले में विद्यमान है। उसमें मूलनायकजी की मूर्ति तो वही है; परन्तु मंदिर वही मालूम नहीं होता।

२. वि.सं. १६५१ के वैशाख महीने में कृष्णदास नाम के कवि ने लाहौर में दुर्जनशाल की एक ‘बावनी’ बनाई है। उससे मालूम होता है कि, वह ओसवाल था। गोत्र ‘जड़िया’ था। वह जगुशाह का वंशज था। जगुशाह के तीन पुत्र थे १-विमलदास, २-हीरानंद और ३-संघवी नानू। दुर्जनशाल नानू का पुत्र था। इस दुर्जनशाल के गुरु हीरविजयसूरि थे। बावनी के ५३ वें पद्ध से यह बात स्पष्ट मालूम होती है -

हरषु धरित मनमङ्ग्ल जात सौरीपुर किङ्दिः  
संघ चतुरविधि मेलि लच्छि सुभमारग दिद्वी;  
जिनप्रसाद उद्धरइ, सुजस संसार हि संजड़ि,  
सुपतिष्ठा संघपूज दानि छिय दंसन रंजड़ि;  
संघाधिपत्ति नानू सुतन दुरजनसाल धरम्मधुर,  
कहि किश्वदास मंगलकरन हीरविजयसूरिद गुर ॥ ५३ ॥

इस कविता से यह भी मालूम होता है कि उसने सौरीपुर की यात्रा कर चतुर्विधि संघ की भक्ति करने में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया था। जिनप्रासाद का उद्धार और प्रतिष्ठा भी कराये थे।

आगे चलकर दुर्जनशाल की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है -  
लछिन अंगि बतीस चारिदस विद्या जाणइ,  
पातिसाहि दे मानु खान सुलितान वर्खाणइ;  
लाहनूरगढ़ मङ्ग्लिङ्ग प्रवर प्रासाद करायउ,

ही नहीं था कवि भी था । उसने कई कविताएँ बनाई थी । सीरोही में आसपाल और नेता थे । इन दोनों ने चौमुखजी के मंदिर में बड़ी धूमधाम के साथ क्रमशः आदिनाथजी और अनंतनाथजी की प्रतिष्ठा थी । बुरहानपुर में संघवी उदयकरण, भोजराज, उक्कर संघजी, हाँसवी, उक्कर संभूजी, लालजी, वीरदास, कृष्णभदास और जीवराज आदि थे । मालवे में डामरशाह और सूरत में गोपी, सूरजी, व्होरो सूरो और शाह नानजी आदि थे । बड़ौदे में सोनी पासवीर और पंचायम, नयेनगर में अबजी भणशाली और जीवराज आदि थे । और दीव में पारख मेघजी, अभेराज, पारेख दामो, दोसी जीवराज, शवजी और बाई लाड़की आदि थे ।

इस प्रकार अनेक गाँवों में सूरजी के अनेक भक्त श्रावक रहते थे । उनकी सूरजी पर अटल श्रद्धा थी । सूरजी के उपदेश से प्रत्येक कार्य करने को वे सदा तत्पर रहते थे । इतना ही नहीं, सूरजी की पधारमणी और इसी प्रकार के दूसरे प्रसंगों में वे हजारों रूपये दान दिया करते थे ।

**हीरविजयसूरि** एकबार खंभात में थे तब उनका पूर्वावस्था का एक अध्यापक वहाँ चला गया । यद्यपि सूरजी उस समय साधु थे, लाखों मनुष्यों के गुरु थे, तो भी उन्होंने अपनी पूर्वावस्था के गुरु का बहुत सत्कार किया और फिर कहा - “आप भेट-सत्कार के योग्य है; मगर आप जानते हैं कि, मैं निर्ग्रथ हूँ । इसलिए मैं आपको कुछ भी भेट नहीं कर सकता हूँ ।”

विजयसेनसूरि बंदि भयो आनंद सवायउ;

जां लगइ सूर ससि मेर महि सुरसरिजलु आयासि धुअ,

कहि किश्रदास तां लग तपइ दुरजनसाल प्रताप तुअ ॥ ५४ ॥

इससे एक खास मतलब की बात मालूम होती है और वह यह कि, दुर्जनशाल ने लाहोर में एक मंदिर बनवाया था ।

अध्यापक ने कहा :- “महाराज ! इस बात का आप कोई ख्याल न करें । मैं तो आपके पास किसी दूसरे ही उद्देश्य से आया हूँ । मुझे एक दिन सर्प ने काट खाया था । अनेक उपाय करने पर भी उसका विष न उतरा । अन्त में एक सदगृहस्थ ने आपके नाम का स्मरण कर उस जगह की चमड़ी को चूमा जिस जगह सर्प ने काटा था । आपके नाम के प्रभाव से जहर उतर गया और मेरे प्राण बच गये । तब मैंने विचारा कि, जिनके नाम-प्रभाव से मैं बचा हूँ उनके दर्शन करके अपने को कृतार्थ करना चाहिए । बस इसीलिए मैं आपके पास आया हूँ ।” उस समय संघवण साँगदे वहाँ बैठी हुई थी । उन्होंने पूछा :- “ये ब्राह्मण क्या आपकी पूर्वावस्था के पाधे-शिक्षक हैं ?” सूरजी ने उत्तर दिया :- “पाधे नहीं गुरु हैं ।” यह सुनकर संघवण ने तत्काल ही अपने हाथमें से कड़ा निकाला और दूसरे बारहसौ रुपये जमा कर ब्राह्मण के भेट किये । ब्राह्मण आनंदपूर्वक सूरजी के नाम का स्मरण करते हुए रवाना हो गया ।

इसी तरह एक बार सूरजी जब आगरे में थे, तब भी ऐसे ही कीर्तिदान का प्रसंग आया था । बात यह हुई थी कि, सूरजी के पधारने के निमित्त लोगों ने अनेक तरह के दान किये । उस समय अकू नाम के एक याचक की स्त्री पानी भरने के लिए गई थी । उसे घर आने में कुछ देर हो गई । जब वह घर पहुँची तब उसके पति ने उसको धमकाया और कहा :- “इतनी देर कहाँ लगाई ? मैं तो कभी का भूखा बैठा हूँ ।” स्त्री ने कहा :- “पानी भरके लाना कुछ सरल नहीं है । देर भी हो जाती है । अगर ऐसा दिमाग् रखते हो तो एकाथ हाथी ही कहीं से ले आओ ।”

याचक क्रोध में घर से निकल गया और श्रावकों के मंडल में जाकर हीरविजयसूरि के गुण गाने लगा । अपने गुरु के गुण गाते देख श्रावक उस पर बहुत प्रसन्न हुए । और अनेक प्रकार का दान देने लगे मगर उस याचक ने कुछ भी नहीं लिया और कहा :- “मैं उसीका दान ग्रहण करूँगा जो मुझे हाथी देगा ।”

उसकी बात सुनकर 'सदारंग' नाम के गृहस्थ घर से अपना हाथी मँगाया और लूँछणा कर याचक को देना चाहा। एक भोजक वहाँ बैठा हुआ था। उसने कहा कि, - "लूँछणा की हुई चीज पर तो भोजक ही का हक होता है दूसरे का नहीं।" सदारंग ने तत्काल ही वह हाथी भोजक को दे दिया और अकू याचक के लिए दूसरा हाथी मँगवा दिया। थानसिंह ने उस हाथी का श्रृंगार कर दिया। अकू याचक हाथ में अंकुश लेकर हाथी पर सवार हुआ और उमरावों के तथा बादशाह के पास जाकर भी हीरविजयसूरि की प्रशंसा करने लगा। फिर वह घर जाकर खी के सामने अपनी बहादुरी दिखाने लगा। खी बड़ी ही प्रसन्न हुई। कुछ देर के बाद वह बोली : "हाथी वे रख सकते हैं जो बड़े राजामहाराज होते हैं, या गाँव-गरास के मालिक होते हैं। हम तो याचक हैं। अपने यहाँ हाथी नहीं शोभता। इसको बेचकर नक़द रुपये कर लेना ही अच्छा है।"

अकू को भी यह बात उचित मालूम हुई। उसने हाथी सौ महरों में एक मुगल के हाथ बेच दिया।

एक बार सूरिजी जब अहमदाबाद गये थे तब उनके पधारने की खुशी में अच्छे अच्छे गायकों ने सूरिजी की स्तुति के सुमधुर गीत गाये। गायकों के सुमधुर स्वरों और अलौकिक भावों से सारी सभा चित्रवत् स्थिर हो गई। भदुआ नाम का श्रावक गायकों पर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपना चार हजार के मूल्य का स्वर्ण का कंदोरा उतारकर गायकों को दे दिया। उसके बाद दूसरे श्रावकों ने भी अंगूठी, कंठी, मोती आदि पदार्थ दान दिये। एक चंदे की सूची भी हुई। लगभग बारहसौ रुपये जमा हुए। वे भी गायकों को दे दिये गये।

इसी तरह पता नाम के भोजक ने हीरविजयसूरि का रास गाया था, उससे प्रसन्न होकर श्रावकों ने उसको एक लाख टके दिये थे।

अभिप्राय कहने का यह है कि, सूरिजी के भक्त इस प्रकार अवसर आने पर बहुत सा धन खर्च देते थे। यह भी सूरिजी ही के पुण्य प्रकर्ष की महिमा के सिवा और क्या है ?

अब इस समय एक खास बात की तरफ पाठकों का ध्यान खींचना हम आवश्यक समझते हैं।

हीरविजयसूरि के उपर्युक्त भक्त श्रावकों के कामों की तरफ दृष्टि डालते हैं तो मालूम होता है कि उनकी प्रवृत्ति बहुधा मंदिर बनवाने में, प्रतिष्ठाएँ करवाने में, संघ निकालने में और ऐसे ही अन्यान्य कार्यों के समय बड़े बड़े उत्सव कराने में हुई है। ऋषभदास कवि के कथनानुसार केवल सूरिजी ने ही पचास प्रतिष्ठाएँ करवाई थीं। और उनके उपदेश से लगभग पाँच सौ मंदिर बने थे। जैसे - मूलाशाह, कुंवरजी जौहरी, सोनी तेजपाल<sup>१</sup>, रायमल, आसपाल, भारमल, थानसिंह, भानुकल्याण, दुर्जनमल, गोनाकू, राजिया, बजिया, ठक्कर जसु, शाह रामजी,

१. सोनी तेजपाल खंभात का रहनेवाला था। वह सूरिजी के अनेक धनाढ़ियों और उदार श्रावकों में से एक था। वि. सं. १६४६ में हीरविजयसूरि जब खंभात में आये तब ज्येष्ठ सुदी ९ के दिन उसने अनंतनाथ की प्रतिष्ठा कराकर पचीस हजार रुपये खर्चे थे। उसी समय सोमविजयजी को उपाध्याय की पदवी दी गई थी। उसने खंभात में एक बहुत बड़ा जिनभुवन बनवाया था। उसका वर्णन करते हुए कवि ऋषभदास हीरविजयसूरिस में लिखता है कि,

इन्द्रभुवन जस्युं देहरुं कराव्युं, चित्रलिखित अभिराम;  
त्रेवीसमो तीर्थकर थायो, विजयचिंतामणि नाम हो. ही० ६  
ऋषभतणी तेणे मूरति भरावी, अत्यंत मोटी सोय;  
भुंडरामां जइने जुहारो, समकित निरमल होय हो. ही० ७  
अनेक बिंब जेणे जिननां भराव्यां, रूपकनकमणि केरां;  
औशवंश उज्जवल जेणे करीओ, करणी तास भलेरा हो. ही० ८

### वर्धमान और अबजी आदिने अनेक मंदिर बनवाये थे और सूरिजी के

यह मंदिर इस समय खंभात के मणिकचौक की खिड़की में विद्यमान है। उसके भोंयेरे में ऋषभदेव की बड़ी प्रतिमा है। इस भोंयेरे की भींति पर एक लेख है। वह उपर्युक्त कथन को ही प्रमाणित करता है। लेख यह है,-

॥ ६० ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ श्रीविक्रमनृपात् ॥ सं. १६६१ वरषे वैशाष शुदि ७ सोमे ॥ श्रीस्तंभतीर्थनगरव्यास्तव्य ॥ ऊकेशज्ञातीय ॥ आबूहरागोत्रविभूषण ॥ सौवर्णिक कालासुत सौवर्णिक ॥ वाघा भार्या रजाई ॥ पुत्र सौवर्णिक वछिआ ॥ भार्या सुहासिणि पुत्र सौवर्णिक ॥ तेजपाल भार्या ॥ तेजलदे नाम्या ॥ निजपति ॥ सौवर्णिक तेजपालप्रदत्ताज्ञा ॥ प्रभूतद्रव्यव्ययेन ॥ सूभूमिगृहशअरीजिनप्रासादः कारितः ॥ कारितं च तत्र मूलनायकतया ॥ स्थापनकृते श्रीविजयचिन्नामणि-पार्श्वनाथबिंबं प्रतिष्ठितं च श्रीमत्पापाग्नाधिराजभट्टारकश्रीआनन्दविमलसूरिपट्टा-लंकार ॥ भट्टारकश्रीविजयदानसूरि तत्पट्टप्रभावक ॥ सुविहितसाधुजनध्येय ॥ सुगृहीतनामध्येय ॥ पात ॥ साहश्रीअकब्बरप्रदत्तजगद्गुरुविरुदधारक ॥ भट्टाकर ॥ श्रीहीरविजयसूरि ॥ तत्पट्टोदयशैल ॥ सहख्नपाद ॥ पातसाहश्रीअकब्बरसभा-समक्षविजितवादिवृद्दसमुदभूतयशःकर्पूरपूरसुरभीकृतदिग्बधूवदनारविंदभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिभिः ॥

क्रीडायातसुपर्वराशिरुचिरो यावत् सुवर्णाचलो-  
मेदिन्यां ग्रहमंडलं च वियति ब्रह्मेदुमुख्यं लस्त् ।  
तावत्पत्रगनाथसेवितपदश्रीपार्श्वनाथप्रभो -  
मूर्त्तिश्रीकलितोयमत्र जयतु श्रीमज्जिनेन्द्रालयः । १ ॥ छः ॥ ॥

इस लेख से मालूम होता है कि, - सोनी तेजपाल ओसवाल ज्ञाति का था। उसका गोत्र आबूहरा था। उसके पिता का नाम वछिआ और माता का नाम सुहासिनी था। इससे एक महत्व की बात भी मालूम होती है। वह यह है कि, यह भूमिगृहवाला जिनमंदिर सोनी तेजपाल की भार्या तेजलदे ने अपने पति की आज्ञा से बहुत सा धन खर्च करके बनवाया था। बिंब की प्रतिष्ठा सं. १६६१ के वैशाख वद ७ के दिन विजयसेनसूरि ने की थी।

इसी तेजपाल सोनी ने एक लाख ल्याहरी खर्चकर सिद्धाचलजी के ऊपर मूल श्रीऋषभदेव भगवान के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। यह बात सिद्धाचलजी पर मुख्य मंदिर के पूर्वद्वार के रंगमंडप में एक स्तंभ पर खुदे हुए शिलालेख से भी सिद्ध होती है।

हाथों से उनकी प्रतिष्ठाएँ कराई थीं। उनके निमित्त बड़े बड़े उत्सव कराये

इस लेख में कुल ८७ पंक्तियाँ हैं। प्रारंभ में आदिनाथ और महावीरस्वामी की स्तुति की गई है। फिर हीरविजयसूरि तक पट्टावली दी गई है और तत्पश्चात् हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि के प्राभाविक कार्यों का वर्णन किया गया है। उसके बाद तेजपाल के पूर्वजों का नाम देकर लिखा गया है कि, तेजपाल ने हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि के उपदेश से जिनमंदिर बनवाने में और संघ भक्ति करने में अगणित धन खर्चा था। उसमें खासकर के सं. १६४६ में खंभात में सुपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया था। इसका भी उल्लेख किया गया गया है। उसके बाद प्रसुत ऋषभदेव के मंदिर का जीर्णोद्धार कराने की बात लिखकर मंदिर की ऊंचाई, उसके झिरोखे, उसके तोरन आदि तमाम चीजों का वर्णन है। उसके बाद लिखा है कि, - मंदिर सं. १६४९ में तैयार हुआ था। उसका नाम नंदिवर्धन रखा गया था। बड़ी धूमधाम के साथ उसने (तेजपाल ने) शत्रुंजय की यात्रा की थी और हीरविजयसूरि के हाथ से मंदिर की प्रतिष्ठा कराई थी।

साथ यह भी बताया गया है कि, इस मंदिर के उद्धार के साथ ही शा रामजी, जसु ठकर, कुँवरजी और मूला सेठ के बनवाये हुए मंदिरों की प्रतिष्ठा भी, सूरिजी ने उसी समय की थी।

अन्त में सुत्रधार-तर्खन वस्ता, प्रशस्ति के लेखक कमलविजय पंडित के शिष्य हेमविजय, शिला पर लिखनेवाले पंडित सहजसागर के शिष्य जयसागर और शिला में अक्षर खोदनेवाले माधव तथा नाना नामक शिल्पियों के नाम देकर यह लेख समाप्त किया गया है।

उपर्युक्त कार्यों के अलावा तेजपाल ने शासन की प्रभावना के और भी अनेक कार्य किये थे। कवि ऋषभदेवास ने 'हीरविजयसूरिरास' में तेजपाल की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है,-

"उसने आबूजी का संघ निकाला था। रास्ते में लाहणी (भाजी) बाँटा हुआ गया था। आबू पर जाकर अचलगढ़ में ऋषभदेवजी की पूजा की थी। सातों क्षेत्रों में उसने धन खर्चा था। हीरविजयसूरि का यह श्रावक था। इसके बराबर कोई 'पोसा' करनेवाला नहीं था। यह विकथा कभी नहीं करता था। उसके हाथ में हमेशा उत्तम पुस्तक ही रहती थी।"

थे। शाह हीरा ने नयेनगर में कुँवरजी<sup>१</sup> बादुआ ने कावी में, शाह लहुजी ने गंधार में और शाह हीरा ने चित्तल में जिनमंदिर बनवाये थे। इनके अलावा लाहोर, आगरा, मथुरा, मालपुर, फतेहपुर, राधनपुर, कलिकोट, माँडवगढ़, रामपुर और डभोल आदि में अनेक मंदिर उनके उपदेश से बने

१. कुँवरजी ने कावी में - जो खंभात के पास है - दो बड़े बड़े मंदिर बनवाये हैं। दोनों मंदिर इस वक्त मौजूद हैं। एक मंदिर धर्मनाथजी का कहलाता है और दूसरा आदीश्वरजी का। धर्मनाथजी के मंदिर के रंगमंडप के बाहर दरवाजे की भीत में एक लेख है। उसमें कुँवरजी का संक्षिप्त परिचय है। उस लेख का संवत् है - १६५४ का श्रावण वदी ९ शनिवार। उसमें बताया गया है कि, इस मंदिर का नाम 'रत्नतिलक' दिया गया है। इसके अलावा इसी मंदिर के मूलनायक की परिकर की दाहिनी तरफ़ के काउसगिया पर एक लेख है। उसमें लिखा है कि, सं. १६५६ के वैशाख सुद ७ कि दिन कुँवरजी ने विजयसेनसूरि से प्रतिष्ठा कराई थी।

आदीश्वर के मंदिर में मूलगभारा के दरवाजे में घुसते दाहिने हाथ की तरफ़ झरोखे में ३२ श्लोकों की प्रशस्ति सहित एक लेख है। उससे भी कुँवरजी के विषय में निम्न लिखित उल्लेख है।

गुजरात के बड़नगर गाँव में लघुनागर ज्ञातीय सियाणा गोत्र का गाँधीदेपाल रहता था। उसका पुत्र अलुआ और पौत्र लाडिका था। इसके बादुक और गंगाधर नाम के दो लड़के हुए। बादुक के दो छियाँ थी। एक का नाम था पोपटी और दूसरी का हीरादेवी। उन दोनों के तीन पुत्र हुए। पोपटी का कुँवरजी और हीरादेवी का धर्मदास और वीरदास। धन कमाने की इच्छा से बादुआ गाँधी खंभात में जा बसा था। खंभात में उसने हर तरह की उत्तित की थी। उस समय 'कावी' तीर्थ में एक मंदिर था। वह अत्यंत जीर्ण हो गया था। उसका जीर्णोद्धार कराने की कुँवरजी की इच्छा हुई। परन्तु उसने - जैसा कि प्रशस्ति में कहा गया है - ततः श्रद्धवता तेन भूमि शुद्धपुरःसरम्। स्वभुजार्जितवित्तेन प्रासादः कारितो नवः। उस श्रद्धालु श्रावक ने निज भुजबल से उत्पन्न किये हुए द्रव्य से, जमीन से लेकर सारा मंदिर नवीन तैयार कराया था। और सं. १६४९ के मार्गशीर्ष शुक्ला १३ सोमवार के दिन श्री आदीश्वर भगवान की स्थापना कर विजयसेनसूरि के पास से उसकी प्रतिष्ठा करवाई थी।

## शिष्य-परिवार

२४७

थे। भारमल शाह ने विराट में, वस्तुपाल ने सीरोही में, वच्छराज और रूपा ने राजनगर में, कक्ष शाह ने पाटन में, वधु और धनजी ने वडली और कुणगेर में, श्रीमल, कीका और वाघा ने शकरपुर<sup>२</sup> में देवालय और पोषधशालाएँ बनवाई थीं। ठक्कर जसराज और जसवीर ने महिमदपुर में मंदिर बनवाया था और आबू का संघ निकाला था। ठक्कर लाई ने अकबरपुर में मंदिर और उपाश्रय बनवाये थे। ठक्कर वीरा और सोढा ने भी जिनभुवन बनवाये थे। कुँवरपाल ने दिल्ली में भव्य जिनमंदिर निर्माण कराया था।

वर्तमान में कुछ लोगों को यह बात अनुचित मालूम होगी; परन्तु हमें यह कहना पड़ता है कि, हम जिस समय का अवलोकन कर रहे हैं उस समय के लिए सूरिजी का उपदेश समुचित-योग्य था। क्योंकि काल के प्रभाव से कुछ ही समय पहिले, कुछ मुसलमान शासकों के जुल्म के सबब से अनेक स्थानों के मंदिर नष्ट हो गये थे और अनेक स्थानों में मूर्तियाँ असातना के भय से गुस्से स्थानों में छिपा दी गई थीं। वैसी दशा में धर्म की रक्षा के लिए मंदिर बनवाने का उपदेश समय के अनुकूल ही था।

संक्षेप में यह है कि - अपने नायक हीरविजयसूरि के तमाम कामों को ध्यानपूर्वक देखनेवाला हरेक सहदय यही कहेगा कि, उन्होंने समय के प्रवाह को ध्यान में रखकर ही उपदेश दिये थे।

---

१. शकरपुर, यह खंभात से लगभग दो माइल पर एक पुरा है। अभी वहाँ दो मंदिर हैं। एक चिन्तामणि पार्श्वनाथ का और दूसरा सीमधंरस्वामी का। दोनों मंदिरों में जानने लायक एक भी लेख नहीं है। केवल आचार्यों की पादुकाओं पर और ऐसे कुछ ही दूसरे भिन्न भिन्न लेख हैं, जो प्रायः अठारवीं शताब्दि के हैं। ऊपर जिन गृहस्थों का वर्णन है उनके नाम का एक भी लेख नहीं है।